UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180001

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83.1 S61A Accession No. GH 2266

Author सिंह विश्वम्भर

Title आत्म कथा

This book should be returned on or before the date
st marked below.

आरपार की माला

शिवप्रसाद सिंह

सरस्वती मंदिर, बनारस

कापीराइट : शिवप्रसाद सिंह

प्रथम संस्करण, १९५५

★

प्रकाशक : सरस्वती मंदिर
जतनबर, काशी

★

वितरक : नन्दकिशोर एंड ब्रदर्स
चौक, बनारस

★

मुद्रक : प्यारेलाल भार्गव
राजा प्रिंटिंग प्रेस, बनारस

★

कवर चित्र : काँजिलाल, बनारस

★

कवर मुद्रक : हिन्द आर्ट काटेज
बनारस

★

मल्य : दो रुपये

बाबा और चिरंजीव को

एक मिनट

रुकें और दो-एक बातें इन कहानियों के बारे में सुन लें, संभव है तब ये कहानियाँ आप को कुछ और निकट मालूम हों। सन् '५१ से '५३ तक की मेरी प्रारंभिक कहानियों का यह संग्रह आपके सामने है। सबसे पहली कहानी 'दादी-माँ' प्रतीक, अक्तूबर '५१ में प्रकाशित हुई और दूसरी 'बरगद का पेड़' मार्च '५२ में (दादी मां गाँव के उस वातावरण की प्रतिनिधि रचना है जहाँ दीनता, विपन्नता और अन्धविश्वास की जड़ें गहराई में जमी हैं, गरीबी और गन्दगी उसे खाद देती हैं; किन्तु पारिवारिक स्नेह, सहज विनोद और प्रकृति की सुषमा इसमें प्रसून की तरह खिला करती है। मेरे कुछ मित्रों को शिकायत है कि मैं गांव के वातावरण का रंगीन और रोमाण्टिक चित्र उपस्थित करता हूँ। मैं मानता हूँ कि तथाकथित यथार्थवाद और प्रकृतिवाद के नाम पर गाँवों की गरीबी के अतिरंजित चित्रमात्र गाँवों को एकपक्षीय और प्राणहीन रूप में ही प्रस्तुत कर सके हैं। जिन्दगी वहाँ रोती ही नहीं मुस्कराती भी है। आँसू और हँसी के ये धूपछाँही अम्बर इन कहानियों के परिधान हैं।

'बरगद का पेड़' कहानी की जिस विशेषता ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया वह था उसका शिल्प। काशी के एक धौरन्धरिक ने अभी हाल में मेरा परिचय देते हुए लिखा है कि मैं 'इमारती आदमी' हूँ यानी 'शिल्पी'। शिल्प को मैं वस्तु से कम महत्त्व नहीं देता, इसे आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य वस्तु मानता हूं। यदि आप कुछ और न सोचें तो मैं कहूंगा कि इन कहानियों में से कई में आपको अछूता शिल्प-सौन्दर्य मिलेगा, जो नितान्त मौलिक और नवीन है। मैं आपसे 'बरगद का पेड़', 'महुवे के फूल', 'उसकी भी चिट्ठी आई थी', 'आर-पार की माला' आदि कहानियों के पढ़ने का आग्रह अवश्य करूँगा। प्रसन्नता तो तब होती है जब मुझे शिल्पाग्रही कहकर 'प्यार' जताने वाले कुछ अकारणबन्धु इन कहानियों के शिल्प को आत्मसात् करने की 'कृपा' भी दिखाते हैं।

इस संग्रह के प्रकाशन का सारा श्रेय बन्धुवर विजयशंकर मल्लजी को है। मैं उनके इस स्नेह-सहयोग के लिए धन्यवाद देने की धृष्टता नहीं कर सकता। श्री गंगाशरण भार्गव ने इसे अत्यन्त उत्साह से प्रकाशित किया एतदर्थ उनका आभारी हूं। श्री लोकनाथ भराली (असम) और श्री शान्ति आंकडियाकर (गुजरात) ने कई कहानियों का अपनी भाषाओं में अनुवाद किया, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में यह संग्रह आपके हाथों में सौंपता हूँ। रवि बाबू ने लिखा है कि सूरज की रोशनी से ज्यादा चक्षु-पीड़ा उस प्रतिबिम्ब से होती है जो शीशे पर प्रतिफलित होता है, मैं इस चक्षुपीड़ा को भी स्वीकार कर लूंगा, क्योंकि सत्य को निकट से देखने का दूसरा साधन भी क्या है; पर शर्त है कि यह प्रतिबिम्ब सत्य के सूरज का हो।

काशी, रथयात्रा
२२ जून, '५५

शिवप्रसाद सिंह

नई पुरानी तस्वीरें	एक
बरगद का पेड़	ग्यारह
हीरो की खोज	बीस
महुवे के फूल	उनतीस
दादी माँ	चालीस
देऊ दादा	सैंतालीस
मंजिल और मौत	सत्तावन
मास्टर सुखलाल	अड़सठ
कबूतरों का अड्डा	सतहत्तर
उस दिन तारीख थी	सत्तासी
पोशाक की आत्मा	सत्तानबे
चितकबरी	एक सौ पाँच
उसकी भी चिट्ठी आई थी	एक सौ सोलह
मुर्गे ने बाँग दी	एक सौ चौबीस
उपधाइन मैया	एक सौ चौंतीस
आर पार की माला	एक सौ चौवालीस

नयी-पुरानी तस्वीरें

(बालकक्षा का छात्र अपने दबंग मास्टर से, कर्जखोर अपने महाजन से, या भड़ैत मकान मालकिन से शायद ही उतना डरता हो, जितना मैं बुआ से डरता था।) मेरे दिमाग में बुआ का कुछ अजीब क़िस्म का नक्शा है। उन दिनों मेरी उम्र मुश्किल से नौ-दस साल की होगी, और मुझे इसकी धुंधली स्मृति भी नहीं कि इस उम्र के पहले मैंने कभी बुआ को देखा भी था, पर पहली बार की भेंट में ही बुआ के रोब-दाब की जो छाप मेरे मन पर पड़ी वह अमिट थी—एक तीस-पैंतीस साल की पतली-दुबली औरत, छोटा भरा-सा मुंह, अधपके बाल। पर बुआ की जो चीज मुझे बहुत आतंकित करती, वह थी उनके दाहिने हाथ की अनामिका को सफेद अँगूठी जिसे वह हमेशा घुमाया करतीं। बुआ के मन में क्या है, प्यार या क्रोध या और कुछ, उसका पता इस अँगूठी की रफ्तार से चल जाता। बुआ हमेशा पान दबाये रहतीं, गले में एक चमकदार हँसली पहनतीं; पर धोती हमेशा सफेद रखतीं, जिसकी शुभ्रता में एक प्रभाव रहता था, जो ठंढा लगता था; पर जिसे छू सकने की हिम्मत नहीं होती थी। उन्हीं बुआ के पास मैं जा रहा था।

नवम्बर के जाड़े की रात अपने काले लिहाफ में सिकुड़ती जा रही थी। पछुवा की तेज हवाएँ चमगादड़ के परों की तरह सनसनाती गाड़ी के डिब्बे में घुस आतीं। अनायास सिसकारियाँ उठतीं, कम्बल सिकुड़ते, एक हरकत होती और फिर सब के सब मुसाफिर डिब्बे में भरी सासों की गर्मी में खो जाते। मैं एक क्षण डिब्बे की खिड़की के भाप-जमे शीशे से सन्नाटे में सरकते पेड़-पौधे, धरती-आकाश को देखता और फिर तुरन्त बुआ की सुध-बुध में खो जाता।

सुबह ज्यों ही नाश्ता करके समाचार देख रहा था, माँ दबे पाँव आकर चारपाई पर बैठ गयी थीं।

'तो क्या सोचा बेटा ?' माँ ने कहा था।

'कहती हो तो चला ही जाऊँगा।' मैंने कहा; पर थोड़ी रुखाई से, क्योंकि मुझे यह अनुमान तो था ही कि नवम्बर की रात में घर से बाहर निकलकर जाना, और वह भी बुआ के यहाँ, कोई बहुत आनन्द की बात नहीं है।

'ऐसे नहीं कहते बेटे !' माँ बोलीं, 'बुआ जरूर किसी कठिनाई में फँस गयी हैं वरना तुमको चिट्ठी लिखकर न बुलातीं। बुआ बड़ी धैर्मी हैं, किसी की मदद भला कब चाहतीं हैं।'

माँ के इस कहने में जो तथ्य था उसे मुझसे अधिक और शायद ही कोई जानता हो। मैं बचपन के दिनों में बुआ को बहुत निकट से देख चुका हूँ। वह सदा आत्मनिर्भर रहीं। अपने आगे उन्होंने फूफा की भी कभी न चलने दी !

फूफाजी बहुत नेक आदमी थे। पता नहीं नेक आदमियों की सूरत भी भगवान् एक खास तरह के सांचे में ढालकर बनाता है। थोड़ा मोटा, ढीला-ढाला शरीर, मूंछें लम्बी और ज्यादा चौड़ी, जो लटककर ओठों को ढक लेतीं। साधारण मोटी-सी धोती और उसपर अँगरखा, जाड़ों में फूफाजी मिरजई पहनते बन्दोंवाली, जिन्हें छाती के पास कसकर बाँध

लेते। फूफा की आँखें कितनी सीधी थी, गाय की तरह, जिनमें जरा भी शोखी नहीं, रंचमात्र तिर्यकि नहीं। पर पता नहीं किन ग्रहों का फेरफार था कि बुआ और फूफाजी में कभी पटती नहीं। बुआ घर की मालकिन तो थीं ही, बाहर के काम-काज में भी दखल देतीं, फूफाजी चिढ़ते, तनकते; पर बुआ उनकी जरा भी परवाह न करतीं।

आज भी मुझे वह घटना भूली नहीं है। बुआ के महेशपुर में एक गौरी राउत थे। गरीब थे बेचारे; पर बड़े ज़िन्दादिल आदमी थे। जहाँ हम गली से मुड़े और गौरी राउत ने देखा कि झट अपनी चारपाई छोड़कर दौड़ने। रास्ते में आकर खड़े हो जाते।

'कहाँ चले बाबू' वह हमारी ओर मुँह करके आँखें नचाते, 'ओ समझा, तो कोल्हू गड़ गया राजा का। क्यों भैया, हमें कभी पपड़ी नहीं खिलाओगे। गुड़ की गरमागरम पपड़ी खाये तो जमाना बीत गया राजा। अच्छा सहेबी कटे तो कहना, देशी की पपड़ी तो पनछोह लगती है।'

'हाँ-हाँ, आना राउत', सूरज कहता, 'मगर हमें अपना नाच तो दिखा दो।'

गौरी राउत चट अपने गमछे को सिर पर डालता। घूँघट काढ़ लेता, हाथों की तालियाँ देता, फिर गाता—

उत्तर में कबुत्तर बोले बन में बोले मोर
नयी बहुरिया रूसल चले पाछे लागे चोर

और फिर बड़े अन्दाज से 'नयी बहू' के रूठने की नक़ल उतारता। हम लोग लोट-पोट हो जाते।

इसी राउत पर बुआ के कुछ रुपए आते थे। बुआ ने कई बार तगादे किये; पर बेचारा गरीब था। लाख जोगाड करने पर भी सूद तक नहीं दे पाता। फूफाजी ने बुआ को समझाया पर वह कब माननेवाली थी। एक दिन मैं बारी से लौटा ही था कि बुआ पास आकर बोलीं, 'सुनते हो विपिन, देखो तो बाहर राघू है।'

मैंने आवाज से ही पता लगा लिया कि आज किसी न किसी के देवता बिगड़े हैं। सर पर पैर रखकर भागा और राघू को पकड़ लाया उसे बुआ के सामने भेजकर स्वयं पल्ले को आड़ में छिप गया।

'विपिन' बुआ चिल्लायी 'वहाँ क्या छिप गया चोर की तरह, सूरत-हराम, जा राघू के साथ। गौरी राउत की गाय छुड़वा ला। ये लोग सीधे माननेवाले नहीं हैं। बिना टेढ़ी उँगली के घी नहीं निकलता। कहते-कहते मुँह थेथर हो गया, और वो है लाट का नाती कि सुनता तक नहीं।'

राघू सिटपिटा कर पीछे हटा, मैं भी चुपचाप उसके पीछे चल पड़ा। बाहरी दरवाजे से फूफाजी आये। उनको किसी तरह पता लग गया था।

'रुको जी विपिन' बुआ की ओर देखकर बोले, 'अरे सुनती भी हो, वही गाय तो बेचारे का अवलम्ब है। वह भी छीन लोगी तो उसके बाल-बच्चे जियेंगे कैसे? वे कुछ और कहना ही चाहते थे कि सामने बुआ की उग्र मूर्ति देखकर सहम गये और उनके मुँह से कुछ अस्फुट-सा फूटते फूटते रह गया।

'गरीब है तो हंडा लाद दो, मैं बोलूँ तब तो, पर मेरा रुपया तो मिलना ही चाहिए। मैंने तो कोई सदाबरत नहीं चलाया है कि खैरात बाँटती चलूँ। खैरात बाँटना हो तो बाँटो; पर मेरे मामले में दखल देने की कीई जरूरत नहीं है।'

फूफा ऐसे मौकों पर कितने दीन मालूम होते, इसे मैं खूब जानता था। इसी से हम उनकी ओर निरीह दृष्टि से देखते विदा हो गये, वरना एकाध बातें हमें भी सुननी पड़तीं।

गौरी राउत अपने दरवाजे पर ही बैठा था। सदा की भाँति वह हमें देखते ही दौड़ा आया। पास आकर वैसे ही आँखें नचाकर बोला, 'क्यों बाबू कहाँ चले?' पर वह मेरी आँखों में व्याप्त छाया को देखकर

सहम गया। कुछ अवांछित होनेवाला है, ऐसा अनुमान तो शायद सहसा वह न कर सका। तभी राघू बोला, 'सुनते हो दादा, बड़ी मालकिन ने हमें भेजा है।'

'बुलाया है भैया?' राउत मन से भीत, दबा हुआ-सा बोला, 'अच्छा अच्छा अभी चला।' और वह हाथ का हुक्का रखने की सोचने लगा। तभी राघू ने फिर कहा, 'लेकिन.....'

'हाँ-हाँ कहो बेटा।'

'बुआ ने तुम्हारी गाय लाने को भेजा है राउत,' मेरे मुँह से अचानक निकल गया। 'गाय!' राउत के मुँह से जैसे 'हाय' निकली, जो देखते-ही-देखते उसके छप्पर के हर तिनके से प्रतिध्वनित हो उठी। उसके औरत-बच्चे बिलखने लगे। मैं ज्यों ही गाय छोड़ने लगा, गौरी राउत ने बढ़कर पगही अपने हाथ में ले ली, बोला, 'मैं खुद पहुँचाये देता हूँ बाबू, अनजाने आदमी को थोड़ा हूँफती है।' उसने गाय के पुट्ठे पर हाथ दिया। ममत्व के स्पर्श से गाय के रोयें खिल उठे, कपास के फूल की तरह। द्वार पर पहुँचते न पहुँचते हम लोगों के साथ एक छोटी-सी भीड़ इकट्ठा हो गयी।

हमें देखते ही फूफा चारपाई से उठकर आये, 'ले जा राघू उधर, धौरा के बगल में बाँध दे।' और फिर वे भीड़ की ओर मुड़े, 'क्या है यहाँ, भागो, कौनसा तमाशा है।' सहसा वह गौरी राउत की ओर मुँह करके बोले, 'बार-बार तगादे का कोई असर नहीं, हुं, जैसे मुफ्त का माल है, इस तरह कैसे काम चलेगा!'

मैंने सोचा था कि जाते ही बुआ से कुछ कह-सुनकर फूफा राउत की गाय लौटा देंगे, पर लगा जैसे इनका भी दिमाग बदल गया है। आखिर रुपयों का मोह तो है ही, कोई कैसे छोड़ सकता है।

गौरी राउत ने फूफा के सामने हाथ जोड़ लिया, 'सरकार कुछ मुहलत मिल जाती।'

'न-न, यह सब अब नहीं चलने का' फूफा रुखाई से बोले।

बुआ दरवाजे पर खड़ी यह सब देख रही थीं। आगे बढ़कर बोलीं, 'विपिन, गाय छोड़ दे बेटा, और सुनो राउत, अगली फसल में मेरा हिसाब साफ हो जाना चाहिए, ले जाओ अपनी गाय।'

बुआ घर की ओर बढ़ीं तो फूफा कुछ कहने के लिए लपके, शायद अब वह गाय देना नहीं चाहते थे; पर बुआ तो जैसे सोच चुकी थीं कि कोई काम वे अकेले करें तो ठीक। जहाँ कोई मददगार हुआ कि बुआ बदलीं, फिर परिणाम चाहे जो हो। बुआ पूरी 'डिक्टेटर' थी। किसी की राय की या मदद की उन्हें कुछ भी जरूरत नहीं।

× × ×

रात का आखिरी पहर अपनी अन्तिम साँसें तोड़ रहा था। एक सुनसान मुर्दनी के वातावरण में केवल गाड़ी की झक्-झक् के अलावा कोई शब्द नहीं उठता था। चारों ओर घोर शान्ति थी। बगल से एक मुसाफिर भुनभुनाया, 'क्यों भाई साहब, आप के पास माचिस है?'

'ना भाई' मैंने सर हिलाया और उसने नशे की तलब को दबाकर बीड़ी कान पर रख ली। फिर एक गम्भीर सन्नाटा छा गया। मैंने कम्बल ठीक किया और पुरानी स्मृतियों की दुनिया में खो गया।

जिस समय गाड़ी फूलपुर स्टेशन पर पहुँची उस समय करीब छः-सात बज रहे थे और अभी नवम्बर का ठिठुरा सूरज क्षितिज के झुरमुट से झाँकने लगा था। मैंने एक रिक्शा लिया और चल पड़ा।

स्टेशन से महेशपुर जानेवाली सड़क से मुझे सदा नफरत रही है। नीची सड़क बरसाती दिनों के बाद, बाजार से लौटते लद्दू बैलों के खुरों से कटफट जाती है, कीचड़ीली जगहों पर मतवाली भैंसें अपनी रगड़ से गड्ढे बना देती हैं, इसी सड़क पर अपने ढीले ढाँचे को बुरी तरह झटकता रिक्शा चला जा रहा था।

गाँव के पास कोई दो मील तक फैली अमराई है जिसके अन्तराल

की काली छाँह को बेध सकना बड़ा मुश्किल है। इस अमराई का चप्पा-चप्पा मेरा जोहा है। पश्चिम तरफ ईसा मियाँ ने अपने हिस्से को नागफन्नी और सीहूँड़ की बाड़ से अलग कर लिया है। इस हिस्से में घुस सकना तो और भी मुश्किल है। एक बार मैं इसी बाड़ में छिपा घंटों बैठा रहा गया था।

जाड़े का ही दिन था। फूफा दरवाजे पर बैठे थे कि मुन्नन नाई आ गया। मुझे शीशा लाने को कहकर फूफा ने मुन्नन को अलाव में पानी गर्म करने का हुक्म दिया। मैंने बिना बुआ से पूछे आले में रखा भारी-सा शीशा उठाया और तेजी से भागा। हाथ का ठीक सँभाल न हुआ और निकसार की बाजू से टकराकर शीशा चाक-चाक हो गया। 'चन्न' की आवाज सुनकर बुआ आयीं। बाहर फूफा भी खड़े होकर मेरे मुँह की ओर देख रहे थे।

'फोड़ दिया न।' बुआ ने कहा। मैंने चुपके से देख लिया, बुआ के चेहरे पर क्रोध का भाव न था। राहत हुई, सोचा चलो, सस्ते बचे।

'जाने भी दो जानकर थोड़े टूटा।' फूफा ने कहा।

फूफा का कहना था कि बस बुआ को तो जैसे आग लग गयी। मानों उनके बाड़े में कोई मरकहा भैंसा घुस आया हो। चट त्यौरी चढ़ी और उन्होंने मेरी ओर कुनैन पीने जैसा मुँह बनाया, 'देख कर नही चलता है, अन्धा है क्या?

बुआ की हालत देखकर फूफा घबड़ाये और मेरे बचाव के लिए भींगी बिल्ली की तरह पैर दबाते मेरे पास आकर खड़े हो गये। उनको मेरी ओर आते देख बुआ एकदम क्रुद्ध बाघिन जैसी झपटी, जैसे उन्हें अपना शिकार दूसरे को देना पसन्द नहीं और उन्होंने चट अपने पंजे से दबोचकर खींचा और मेरे गाल पर जोर से एक थप्पड़ जड़ दिया।

फूफा 'हैं हैं' करते ही रहे पर बुआ तो इसके लिए भी तैयार थीं, बोलीं 'तुम लड़कों को बिगाड़कर मिट्टी कर दोगे।' फिर मेरी ओर देख-

कर बिगड़ीं, 'क्या टुकुर-टुकुर ताकता है, जाकर बैठ।' मैं वहाँ से चला आया। जाकर बैठता तो क्या, मन-ही-मन बुआ को कोसता ईसा मियाँ के बाड़ में जा छिपा।

दोपहर को बगीचे में चारों ओर मेरी खोज होने लगी। बुआ खुद पागल हवा की तरह पेड़ के हर पत्ते को पलट देना चाहती थीं। मैं ईसा खाँ के टेढ़े बींजू की आड़ से सब तमाशा देख रहा था। बुआ कभी अपने को कोसतीं, कभी फूफा को बुरा-भला कहतीं।

'विपिन !' बुआ की तेज आवाज में अनदेखा ममत्व था। मैं अपने को रोक न सका और चुपके से निकलकर उनके सामने खड़ा हो गया। मुझे देखते ही वे लपकीं और खींचकर उन्होंने अपनी गोद में ले लिया। मेरे गाल को सहलाते हुए बोलीं, 'अरे भैया, पागल है क्या, कहाँ झाड़ झँखाड़ में घुस कर बैठा था।'

मेरी आँखों से तो न जाने क्यों आँसू चू पड़े। वे बड़ी देर तक वैसे ही बैठी रहीं।

'बुआ' मैंने कहा, 'आओ चलें, फूफाजी परेशान हो रहे होंगे।'

बुआ तिनकीं, 'वे क्या परेशान होंगे। काठ हैं काठ। तेरे आने पर बड़ी देर तक लड़ते रहे, फिर बोले, 'अच्छा मार दिया तो ठीक ही किया, लड़कों को लाग-डाट में रखना अच्छा रहता है।'

मैं चुपचाप बुआ की तरफ देखकर हँस पड़ा।

× × × ×

रिक्शे से उतरकर मैं जब बैठके में पहुँचा उस समय दालान में रखी एक चौकी पर सूरज और उसके कुछ साथी बैठे चौपड़ खेल रहे थे। सूरज ने एक बार गर्दन उठाकर मेरी ओर देखा और फिर अपने काम में लग गया। मैं आध घंटे तक यों ही बैठा रहा, मुझसे बोलने-वाला भी कोई न मिला। तभी बग़ल के दरवाजे से बुआ आयीं। मैंने उठकर पैर छुए। बुआ को देखकर तो दंग रह गया। वही शरीर था,

वही बाल, हाथ में अँगूठी, वही सफेद धोती थी, जिसमें अब रोब न था, ऐंठ न थी, करुणा और ममता का मिश्रण था।

'चलो विपिन,' फिर वह सूरज की ओर मुड़ी, 'सूरज, तू भी चल।'

'क्यों रे !' पास आकर बोली, 'अच्छी तरह रहा न !'

सूरज अभी खेल में मशगूल था। बुआ ने पुकारा तो वह 'हूँ' करके रह गया। उठा नहीं। उसके अंग-प्रत्यंग से उपेक्षा टपकी पड़ती थी। मुझे सूरज के इस व्यवहार पर बहुत गुस्सा आया। लगा जैसे बुआ उबलेंगीं; पर उनके चेहरे पर कोई विकार न आया। वह चुपके सूरज के पास गयीं और उसका हाथ पकड़कर उठा लायीं।

शाम को बुआ खुद खाना बना रही थी। मैं खाने बैठा तो बोली, 'विपिन, शादी कर रहा है रे, मुझे ले चलेगा न, जल्दी हाथ पीले कर, बेचारी भाभी का कब तक हाथ जलायेगा।'

'सूरज भाई की शादी तो हो गई है न बुआ।' मैंने व्यंग किया।

बुआ बोलीं 'न-न, एक काम भी अपने हाथ से न करूँ तो अच्छा नहीं लगता। तेरे फूफा के जमाने में तो एक दाई भी थी, तब भी काम पहाड़ मालूम होते थे, मैंने तो उसे भी हटा दिया। जब तक हाथ-पैर चलता है बेटा, बैठना ठीक नहीं।'

मैं बुआ को आश्चर्य से देखता रह गया।

काफी दिन बीत गये मैं घर का अकेला आदमी ठहरा। जब चलने को तैयार हुआ तो बुआ आयीं। मैंने कहा, 'बुआ, तुमको माँ ने साथ लाने को कहा है।'

'मुझको !' बुआ हँसीं, 'पागल है क्या भैया, अरे इतना बड़ा घर-द्वार किस पर छोड़ूँगी। शादी-वादी करना तो बुलाना, तब देखा जायगा।'

मैंने बुआ के चरण छुए। चलने को हुआ तो बोलीं 'क्यों रे, भाभी को नमस्ते नहीं करेगा क्या ?'

सच ही मैं बड़ा लज्जित हुआ। लपककर भाभी के कमरे की ओर गया।

'लेते क्यों नहीं जाते उन्हें भी।' भाभी ने घंटी की तरह पतली पर बेधनेवाली आवाज में कहा, 'इसीलिए तो चिट्ठी देकर बुलाया था। लेते जाइए। मालकिन हैं। सन्दूक में रुपया पैसा बहुत है।'

मैं तो सन्न रह गया। शरीर मारे क्रोध से जलने लगा।

सामने बुआ खड़ी थीं। सभी बातें सुन रही थीं, पर उनके चेहरे पर कोई शिकन नहीं। न क्रोध, न प्रतिरोध। मैं अवाक् रह गया। टक लगाये बुआ के शान्त चेहरे को देखता रहा। क्षुद्र आघातों से विचलित न होने-वाले गहन महासागर के जैसा ही एक भाव उनके थाह हीन नेत्रों में व्याप्त था। मुझे याद आया, बुआ के विरोध और क्षोभ के समय ऐसा ही भाव फूफाजी के चेहरे पर उभर आया करता था।

जब वहाँ से चला तो मेरी आँखों के सामने बुआ की दोनों तस्वीरें नाच रही थीं। एक दर्प भरी जाज्वल्यमान और दूसरी यह शान्त, गहन और क्षमाशील। इन दोनों के बीच एक पर्दा झूल रहा था और उसपर एक छाया मुस्कराती हुई मालूम पड़ती थी—स्वर्गीय फूफा की आकृति, ओठों पर मूछों के बाल लटक आये हैं और समुन्दर-सी अथाह आँखों में चिर क्षमा का वरदान भरा है....।

*

बरगद का पेड़

बरगद का पेड़ मेरे बरामदे से ही दीखता है। लगता जैसे देव-गढ़ी के टीले पर खड़ा यह बरगद का पेड़, हवा में तीखे-तीखे बाल फैलाये कोई राक्षस खड़ा हो। मैं इस पेड़ को होश आने के समय से ही देखता आ रहा हूँ। मैंने इसे चाँदनी रात में देखा है, काली रात में देखा है, डूबते हुए सूरज के गेरुए आलोक में देखा है; और प्रातः ओस-सने वातावरण में सोना रोलते दिनमणि के प्रकाश में देखा है; पर मुझे यह ऐसा कभी न लगा। पुरवैया के झकोरे में, लम्बी-लम्बी शाखों की रगड़ से बेसुरा भद्दा शब्द करते, श्मशान की खोपड़ी-सा दाँत फैलाये जैसे यह अट्टहास कर रहा है। उसके पैरों में सोयी तलैया शान्त पड़ी है। वह कभी बाहरी आक्रमणकारियों से गढ़ की रक्षा के लिए खाई का काम देती थी, अब प्रायः इसमें एक तरफ बहुत दूर तक फैले हुए सेवार, नागरमोथा और रेंड़ई की जड़ों को थूथन से खोद कर खाते हुए गँवई सूअर और दूसरी ओर टीले के पास, थोड़े गहरे पानीवाले कँकरीले घाट पर स्नान करते हुए कुछ लड़के दिखायी पड़ते हैं। सूअरों और आदमियों के खित्तों को बीच से बाँटती हुई पुरइन की कतार सोयी रहती है जिसमें मौसम में लाल फूल भी झाँकते हैं।

रात के समय कोई टीले पर नहीं जाता। मैं प्रायः अँधेरे में टीले पर बैठ कर उगते हुए चाँद को देखा करता। दादी मुझ पर बहुत बिगड़ती, उन्हें रात के समय अन्हियारे में घुस कर बैठना पसन्द नहीं। मैंने बातचीत के सिलसिले में उनसे टीले की कहानी पूछी थी। उन्होंने बताया 'देवीगढ़ में रामसिंह सकरवार का राज था। राजा के तीन बेटे थे। बड़ा बेटा वीरेन्द्र बड़ा सुन्दर था। जब वह गली में निकलता तो औरतें उसको देखने के लिए छज्जों पर चढ़ जातीं। उसकी आँखें सदा हँसती रहतीं। वह जितना सुन्दर था, उतना ही शक्की और जिद्दी था !'

हवा का एक तेज झोंका उठा। मैंने देखा टीले की कालिमा में गड़ा हुआ बरगद का पेड़ वैसे ही खड़ा है। टीले के अन्धकार में, मुझे लगा जैसे किसी की पीली छाया सोनजुही की लता के समान खड़ी हो गयी है। बचपन के दिनों की बात है। मैं अपने दरवाजे पर बैठा था। पास ही चारपाई पर दादा पेचदार हुक्के की नली मुँह से टिकाये लेटे थे। बगल में चाचा खिड़की की छड़ से भूँज की रस्सी बाँध कर उसे तिगुन रहे थे। कोने में बँधी मेरी बड़ी जमनापाड़ी, अपने पास खड़े पाँच-छः दिन के लेरू को चाटती हुई, नजदीक आनेवालों को अपने चमकीले सींग फेर कर हूँफ रही थी।

'वीनू भैया', मैंने घूम कर देखा मुझे शीला पुकार रही थी। वह दादा के डर से पीछे मुँह किये धीरे से बोली, 'तुम्हें दादी जोह रही थीं।'

मैं उसी के साथ ही उठ कर गली में आया। वह मेरे कानों के पास आकर धीरे से बोली 'क्यों, आज टीले की ओर नहीं चलते।'

शीला पीतल की छोटी कलसी लिए तलैया की ओर जा रही थी। मैं भी उसके साथ हो लिया।

सावन के दिन थे। आकाश में काले कजरारे बादलों की दौड़

मची थी। टीले के पास, बरगद के नीचे लड़के 'डाँड़गॅरोड़' चिल्लाते हुए दौड़ रहे थे। गर्मी में होलापातीं भले अच्छा लगे पर बरसाती मौसम में तो कबड्डी और 'डाड़' खेलने में ही भला है। मैंने भी दरवाजे से लाठी उठायी और इसी गिरोह में जा मिला। (कँकड़ी बुझाकर एक लड़के को चोर डाला जाता है। वह उसी लड़के को छूने की कोशिश करता है, जिसकी लाठी का एड़ा, पास छिटके गीले या सूखे गोबर पर नहीं पड़ता। गोबर बहुत दूर-दूर तक छिटका होता है। दौड़ने में बड़ा मजा आता है।) खेल लहसा ही था कि तलैया की ओर से शीला चिल्लाली। सभी दौड़े। मैंने देखा उसके बाल पकड़ कर सीरी खींच रहा है। मैं क्या कहता। सीरी उसके किसी दूर के रिश्तेदार का लड़का था। एक ही घर में रहता था। शीला बेज़ार रो रही थी और वह था कि मानता नहीं था। मन में तो आया आज 'कीचक-वध' दुहरा दूँ पर दादा के डर से अपने को रोके रहा। 'अरे भई, लड़की से क्यों लगता है' दूर से लल्लन बोला।

मैंने पास जाकर उसे छुड़ाना चाहा तो वह चेहरे को बहुत विकृत बना कर मेरी ओर झपटा। एक तो यों ही दीमक लगा खुदखुदा चेहरा, दूसरे उसके क्रोध ने कुछ ऐसी रंगत ली कि मैं उस पर हँसी न रोक सका। उसने दौड़ कर मेरी गरदन पकड़ी और उसके तीखे नाखून से लग कर मेरी गरदन छिल गयी, मैं भी गुस्सा रोक न सका और एक जोर का थप्पड़ गाल पर जड़ दिया; डेढ़ हड्डी का जवान औंधा होते-होते बचा।

'बड़ा ऐंठता था' लल्लन चिल्लाया। पास खड़ी शीला अपनी नीलोफर-सी नील आँखों से मेरी गर्दन के पास कुर्ते पर लगे खून के दाग को देख रही थी। मैं विजय के उल्लास में भी दादा के डर से सिमट-सा रहा था।

आये दिन मुझसे शीला मिलती। वह कभी टीले के बरगद में झूला

डालने का आग्रह करती, कभी बाजरे के खेतों से दाना-पड़ी बालियों को तोड़ कर उम्मी भूजने का हठ। पर आज करीब बीस दिन से अधिक हो गये, शीला मुझसे मिल न सकी।

क्वार की उदास साँझ मुडेरों पर खड़ी बिदाई के लिए कनखी झाँक रही थी। आज दिन भर मुझे बड़े जोर का बुखार रहा। शाम को ताप कम होने पर मैं चुपचाप अपनी दायीं कलाई में बँधे रक्षा के ढीले तागों को इधर-उधर कर रहा था। तभी शीला धीरे से कमरे में घुसी। मैंने उसकी ओर देखा और चुपचाप सोचने लगा।

'आओ बच्ची', दादी बोलीं 'मैं जरा बाहर जाती हूँ, तू विनय के पास बैठ।'

दादी चली गयीं। शीला उठ कर मेरी चारपाई पर बैठ गई। उसने धीरे से हाथ छू कर पूछा, 'वीनू भैया, कैसे हो ?'

'अच्छा हूँ।'

शीला बोली, 'बड़ी मुश्किल से तुम्हारी तरफ आ सकी हूँ। अम्मा बुरा मानत हैं।' उसने धीरे-से एक काला तागा निकाला। बीच से किसी जड़ी की छोटी टुकड़ी लटक रही थी।

'वीनू भैया', उसने बड़े स्नेह-सने शब्दों में कहा, 'क्या तुम मेरे हाथ में यह तागा बाँध दोगे ?'

मैं हँसा, 'इतनी छोटी-सी बात के लिए पूछती हो' और मैंने बिना सोचे-समझे तागा उसकी कलाई में लाल चूड़ियों के पास ही बाँध दिया।

शीला बोली, 'भैया, दादी को बुलाये देती हूँ, मुझे ज़रा जल्दी है।'

और वह चली गयी। शाम तक उसके बारे में सोचता, पता नहीं कब मैं ऊँघने लगा। जगा तो देखा सामने दादी माँ खड़ी हैं और मेरे पास ही देऊ पण्डित बैठे-बैठे अपनी डाँट और मिन्नत के रटे-रटाये

शब्दों में किसी अदृश्य सत्ता के अचल सिंहासन को हिलाने का उपक्रम कर रहे हैं। घोख-घाख कर उन्होंने बगल से एक तागा निकाला, काला तागा—वैसे ही बीच से जड़ी झूलती हुई। बोले, 'सुनती हो, दादी, तुम्हारा कहना ठीक है। इधर हाथ लाओ। वीनू से छुला कर जड़ी अपने हाथ में बँधा लो।'

मेरी बुद्धि भ्रष्ट तारे की भाँति चकरा रही थी। मैंने बड़े झटके से पूछा, 'यह कैसा तागा ? मैं क्यों बाँधू ?'

दादी माँ बिगड़ीं, 'तू बड़ा विद्वान् बनता है। हर बात में क्यों-क्यों लगाता है।'

देऊ पण्डित को अपनी विश्रुत जड़ी का गुण छिपाना पसन्द न था। बोले, 'सुनो वीनू, यह उस्ताद की दी हुई आपामारग की जड़ है। ज़िद्दी अपदेवता इसके डर से बाँधने वाले के शरीर को छोड़ कर वहाँ चले जाते हैं जहाँ यह बँधती है।'

मैं चिल्ला कर एक ओर लुढ़क गया। जड़ी मेरे हाथ को छुला कर दादी ने अपने हाथ में बाँधी कि नहीं—पर बुखार उतर गया। बुखार में तो नींद भी आती रही, बुखार उतरते वह भी गायब हुई। शीला के बारे में मैं किसी तरह कुछ भी न जान सका। उसकी बीमारी का निश्चय धीरे-धीरे गहरा होता गया। पूरा एक महीना बीत गया। कार्तिक की बुआई शुरू हो गयी। दो घड़ी रात तक, मलमल की तरह फैली हुई चाँदनी में चारों ओर 'हट-हट' और बैलों के गलों में बँधी घण्टियों की झन-झन से रात बड़ी मनसायन रहती। मैं चुपचाप अदृश्य शक्तिधारी से प्रतिवाद करने के लिए बरगद के पेड़ के नीचे धोती खूँट कर बैठा था। मनमारे मैं अपने में ही पड़ा था कि किसी ने हाथ पकड़ कर खींचा।

'वीनू-भैया', शीला बोली, 'फिर तुम इसी टीले पर अँधियारे में बैठने लगे ?' वह पास आकर उसी पत्थर पर बैठ गयी। बहुत धीरे-

धीरे मेरे हाथ को सहलाते हुए बोली, 'अब तो तुम अच्छे हो वीनू भैया।'

मेरा गला भर आया था। मैंने धीरे से कहा, 'जान के बदले जान देने पर भी अच्छा न होऊँ!'

शीला ने मुँह लटका लिया, 'जानते हो वीनू, कल मैं अपने ननिहाल जा रही हूँ।' उसने मेरी ओर देख कर कहा, 'मुझे भूल तो नहीं जाओगे?'

मैं उसका मुँह ताकता रहा। 'पूरे दो वर्ष में आऊँगी।'

'दो वर्ष!' मेरे मुँह से अचानक निकल गया।

'हाँ, और तुमसे एक बात और कहनी है। मानोगे न विनय!' उसने गम्भीर होकर कहा, 'आज से इस पेड़ के नीचे न बैठना। यह बड़ा मनहूस है। आओ चलो।' उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैं पीछे-पीछे चला गया।

मैंने देखा मनहूस बरगद का पेड़ वैसे ही राक्षसी मुद्रा में खड़ा है। बीच में उलझा हुआ चाँद कटी पतंग-सा लटका है।

दादी ने कहा था 'उस वीरेन्द्र का ब्याह ठीक हुआ। सुनते हो न विनय। चम्पक के ठाकुर की लड़की थी चम्पा, और उसका छोटा भाई था रमेश। उसी चम्पा के साथ वीरेन्द्र की शादी धूमधाम से हुई। बड़ा दहेज मिला। ठाकुर ने दहेज में ही एक बुद्धिमान तोता भी दिया जो राजकुमारी को प्राणों से भी प्रिय था। राजकुमार कुमारी के प्रेम में लीन हो गया। एक दिन की बात है कि राजकुमारी बहुत उदास थी। उसे शायद मायके की याद आ रही थी। तोता भी उदास था। राजकुमार ज्यों हीं महल में घुसा तोता चिल्लाया, 'रमेश! रमेश!'

राजकुमार ने क्रुद्ध से पूछा, 'कौन रमेश!'

तोता बोला, 'तू नहीं, तू नहीं।'

राजकुमार को गुस्सा आया और उसने शंकालु चित्त से क्रुद्ध होकर पिजड़े में बन्द तोते को अपनी तलवार से बेध दिया। तोता तड़फड़ाता रहा।

मैंने आँखें मीच ली। दो वर्ष बीत गये थे। शीला आ चुकी थी। पर मुझसे उससे मुलाकात न हो सकी। दो वर्ष तक मैं बरगद के नीचे चाह कर भी न जा सका। आज अनजाने मेरे पैर उधर ही उठते गये। मैं बरगद के नीचे पहुँचा प्राचीन स्मृतियाँ करवटें बदलने लगीं। तलैयों की ओर मुड़ा तो झिझक कर खड़ा रह गया। शीला बीच में जल को हाथों से धक्का देती तैर रही थी। खिली हुई पुरइन के बीच उसके मुख का प्रकाश और भी तेज था। वह काफी बदल चुकी थी। अंगों की सुपुष्टता उभर कर झलक रही थी। मैं उसको ओर देख न सका। लौट कर जाने को हुआ तो बोली, 'ठहरो विनय। मैं नहा चुकी। नहा न लो तुम भी।' उसने मुझे देख कर गर्दन झुका ली, मैं रुक गया। आगे से हँसता हुआ सीरी दिखायी पड़ा। मुद्दत से मैंने उसे नहीं देखा था। सीरी सदा हमसे दूर रहा। बरगद के नीचे खेलों में वह कभी शामिल न हुआ। सीरी पास आ चुका था। देढ़ हड्डी का वह सींकिया जवान अब पूरा तोदँइला हो गया था। उसकी पतली नाक औसत से ज्यादा बढ़ गयी थी। उसके नेत्र तो अब भी पिल्ले से दुबके, उसके खुदखुदे मुख में जड़ी बटन से चमकते। जबान तेज थी। वह बोला, 'निकलती हो नहीं शीला। तैरती ही रहोगी क्या? माँ बुला रही हैं।'

शीला निकली तो वह धमाके से पानी में कूदता हुआ बोला, 'एक मिनट ठहरना, मैं भी साथ ही चलूंगा।' मैं भी पानी में आ चुका था। सीरी ने बढ़ कर किनारे के पुरइन के दो फूल तोड़े। मैंने भी अनचाहे बड़े बीच से, कांटों में घुस कर एक बड़ा-सा लाल फूल नाल समेत उखाड़

लिया। अनचाहे नाल चीर कर माला भी बना दी। ऊपर आकर सीरी ने अपने फूल शीला की ओर बढ़ाये। अभ्यासवश मैंने भी माला उठायी। सीरी ठहाका लगा कर हँस पड़ा, 'देखती हो शीला, यहाँ वालों को शरम नहीं,' फिर मेरी ओर मुड़ कर बोला, 'कष्ट न कीजिए।' वह शीला का हाथ पकड़े चला गया। मेरे हाथ की उठी माला शून्य में कब तक पड़ी रही, पता नहीं। ख्याल हुआ तो मैंने उसे घुमा कर फेंक दिया। पतली टहनी में उसके उलझते ही बरगद का वृक्ष खिलखिला उठा। कुछ दिनों के बाद सुना शीला और सीरी की शादी हो गयी।

दादी माँ कह रही थी 'सुने न विनय, तो उस तोते को वहीं छोड़ कर राजकुमार भीतर गया। वहाँ पहुंचा तो देख कर सन्न हो गया। हाथ से छाती पकड़े राजकुमारी जमीन पर पड़ी तड़प रही थी। सुग्गे में तो उसकी जान बसती थी।'

राजकुमारी ने राजकुमार को देख कर कहा, 'ओ पापशंकी! तूने मुझ पर सन्देह किया। मेरे श्राप से गढ़ मिट्टी में मिल जायगा। और आज से इस टूटे गढ़ की छाँह में कभी भी दो प्रेमी हृदय मिल कर नहीं रह सकेंगे।'

मेरे मन में जैसे किसी ने जलती शलाख चुभो दी। मैंने आँखें खोल कर देखा देवगढ़ी के टीले पर खड़ा बरगद का पेड़ मुझे लगा जैसे रानी का जहरीला शाप पुंजीभूत होकर खड़ा है। तभी बरामदे का भीतरी दरवाजा खोलकर मेरी पत्नी चन्दा मेरे पास आयी। बाहें पकड़ कर बोली, 'अभी सोने लगे क्या। देखो कितनी अच्छी रात है। आओ थोड़ा घूम आयें,' मैं उसके साथ हो लिया।

पता नहीं कैसे चलता रहा। कुछ ख्याल हुआ तो देखा हम उसी बरगद के नीचे की चट्टान पर बैठे हैं। मेरी आँखों में आश्विन की साँझ,

कार्तिक की रात, पुरइन की माला और वह बरगद की डाल—सभी सिने-चित्र की भाँति काँप उठे। मुझे न जाने कैसा-कैसा लगने लगा।

मैंने देखा बरगद के नीचे पत्तों से छनछन कर आती हुई चटकीली चाँदनी, चितकबरे के चाम-सी चादर फैलाये हँस रही है, 'चन्दा,' मैंने धीरे से कहा, 'आओ चलें।'

'बस!' उसने अपना गोल चेहरा ऊपर उठा कर कहा, 'देखते नहीं रात। इतनी जल्दी! ऐसी रातें सदा नहीं आतीं।'

मेरे भी मन में किसी ने कहा—सचमुच ऐसी रातें सदा नहीं आतीं।

मैंने चन्दा के चाँद से मुँह को देखा जिस पर उचटी-सी टहकी चाँदनी बारीक रुई के रेशे-सी बिछल रही थी।

तभी मैंने ऊपर देखा—बरगद की वही भद्दी बेडौल शाख जिसमें मेरे हाथों की फेंकी हुई पुरइन-माल लटक गयी थी। जो अब हवा के थपेड़ों और ऋतुओं की मार से धूलिसात् होकर हवा में मिली साँस ले रही होगी। तभी मुझे दादी की कहानी याद आयी—रानी के अभिशाप के शब्द कानों में गूंजे।

मैंने झटके से चन्दा का हाथ पकड़ा, 'चन्दा उठो, मुझे न जाने कैसा लग रहा है।'

चन्दा चुपचाप मेरे पीछे चली।

मैं बहुत दूर आ चुका था। मैंने मुड़ कर देखा—बरगद बहुत पीछे छूट गया है। पर अब भी पुरवैया के झकोरे में डालों की रगड़ से निकले हुए शब्द दानबी अट्टहास से गूंज रहे हैं।

*

हीरो की खोज

खपरैल की छाजन के छिद्र से सूरज की पहली गैरिक किरण के साथ ही साथ मन में न जाने कब की सोयी ख्वाहिश जगी, और तब से लेकर दोपहर के बाद तक मैं लाख सिर धुन रहा हूँ, मुझे अपने परिचितों में एक भी ऐसा नहीं मिलता जिस पर कोई कहानी लिखी जा सके। यों मेरे गाँव में ही कोई पाँच-छह सौ से अधिक आदमी हैं, सब अपनी तरह के निराले। किसी की आँख, नाक, कान या कोई भी चीज़ एक दूसरे से नहीं मिलती, शौक़ीन एक से एक हैं। चाय बगान से अभी-अभी लौटे रूपचन्द अपनी भौंहों तक लटके बालों को शिखा तक पहुँचाने में पसीने-पसीने हो जाते हैं। गोखुर की तरह गोल और गोपुच्छ की तरह लम्बी चुटिया को शिवू पंडित किसी क़ीमती अन्न के पौधों की तरह सींचते हैं जब कि हर तीसरे दिन उस्तरे के फावड़े से बाकी बालों को साइं, केना, मोथा या अन्य बीजमारक घासों की तरह उखाड़ फेंकते हैं। ठकुर टीमल सिंह के सिर की झब्बेदार चुन्नट वाली पगड़ी को कालू चमार का छोटा लड़का एक टक निहारता है और फिर ज़रा-सा भौंहों को तिर्यक देख भाग जाता है और तब आदमहौवा के पचीसों नंगे जोड़ों में मिल

कर उस पगड़ी की बीसियों नक़ल उतारता है। उसी तरह चमार, धोबी, नाई, ब्राह्मण, पारसी आदि पचीसों जातियों में एक-से-एक लोग हैं; पर बुद्धि को दोष दूं या रुचि को कि सब किसी छुए अंडे की तरह निर्गुन मालूम होते हैं। लाख कोशिश करने पर भी जब कोई नहीं मिलता तो हार कर बुद्धि फिर बोधन तिवारी के पास पहुँचती है जिनके पास फटकने की हिम्मत भी कम ही करते हैं।

उस दिन जब मैं बोधन तिवारी के पास पहुँचा तो क़रीब पाँच बज रहे थे [क्वार की शाम यों भी बहुत मनहूस होती है और देहात में जब कि चारों ओर ज़र्द धानों के खेत से उठी उमस और मच्छरों की भनभनाहट से पूरा सिवान भर जाता है, अजीब क़िस्म का सन्नाटा नाना मुद्राओं में फैल कर छा जाता है] ताल के किनारे बड़े पीपल के नीचे बोधन तिवारी चुपचाप मन मारे बैठे थे। पैरों की आहट होते ही चौंके, बड़ा भद्दा-सा मुँह बनाया, होठों को सिकोड़ कर देखा, लगा, जैसे असमय उपस्थित होकर मैंने उनकी कल्पना को ठेस पहुँचायी है। सहसा उनके चेहरे की सलवटें उनकी मुसकुराहट में खो गयीं और मेरी ओर देख कर बोले, 'अरे तुम हो, मैंने तो समझा कि बड़े पंडित के लड़के हैं। इन लौंडों के मारे तो मेरा गाँव में रहना दूभर हो जाता है। छोटा वाला तो शैतान का भी चाचा है। जब देखो मुँह फैला कर गाना, दिन रात हीं-हीं-हीं-हीं, अरे यह भी कोई तरीका है। बड़े आदमी के घर जनम लिया तो कुछ हुनर सीखो।'

बड़े पंडित का छोटा लड़का है गोपाल। यों प्यार से लोग टिन्नी कहते हैं। पता नहीं, बोधन तिवारी से टिन्नी की क्या लाग है कि जहाँ उसने तिवारी को देखा अपनी एक आँख दबा कर मुँह को विकृत करके चिल्लाएगा 'आना, एक आना, दो आना', जैसे हाथ पर इकन्नियाँ गिन रहा हो। बोधन तिवारी काने हैं सो जहाँ टिन्नी के मुँह से एक आना सुना, क्रोध से उनकी देह जल जाती है। उसके पीछे ढेले लेकर घंटों

दौड़ते रहते हैं। विशाल चट्टान-सी तनी छाती, खिंची मूँछें, और उस सुडौल काया से गज-शुण्ड की तरह झूलती बाहों वाले तिवारी का इस क़दर दौड़ना कुछ अजीब लगता है। तिवारी सूरत से काफ़ी भद्दे हैं। इस भद्देपन की भी एक कहानी है जिसे सुन कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। बोधन तिवारी जब केवल आठ महीने के थे, उनकी माँ पागल हो गयीं। पता नहीं निरन्तर गरीबी में पिसते रहने के कारण, या किसी अदृश्य शक्ति के अभिचार के कारण ऐसा हुआ। एक दिन पागल ब्राह्मणी अपने छोटे-से बच्चे को लेकर गंगा-स्नान को चली। राह में जितने टीले, पत्थर, बमौट या झाड़ियाँ मिलतीं, सब पर बच्चे के सर को पटक देती, खून के छींटे उठते, बच्चा चीखता; पर आविष्ट की हालत में ब्राह्मणी बलिदान के गीत गाती चलती जाती। गंगा पहुँचने के बाद, उसने खून के दाग़ छुड़ाने के लिए बच्चे को कपड़े की तरह पीटना शुरू किया, घाट से लोग दौड़े। छीन-झपट कर बच्चे को छुड़ाया और गाँव के देवू वैद्य के बड़े परिश्रम के बाद बच्चा होश में आया; पर उसकी एक आँख फूट चुकी थी। उसका पूरा चेहरा दीमक लगी पुस्तक-सा विकृत हो गया, जिसकी अदृश्य लिखावट को लोग आश्चर्य से देखते और बच्चे की प्राण-रक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना करते।

मैं पास ही बैठ गया और मैंने देखा बोधन तिवारी मेरी ओर एकटक देख रहे हैं। उनकी आँख में कौन-सी पीड़ा छिपी है कि मैं उनकी ओर देखने में असमर्थ हो जाता हूँ। मैं सोचता हूँ, कहाँ से कहाँ आ पड़ा। कहीं पूर्वजों के बनाए सभी कौशल फ़ेल तो नहीं हो जायेंगे। भला ऐसा इनसान भी जिसकी आँखों में कोई सैलाब न हो, जिसके बालों में कोई मरोड़ न हो और जिसके चेहरे पर जवानी की चिकनाहट न हो, किसी कहानी का हीरो बन सकता है?

सहसा मेरी ओर देखकर तिवारी बोले, 'ठाकुर के घर गये थे?' 'हाँ, उधर से ही तो आ रहा हूँ।' पूछा मैंने, 'ठाकुर का लड़का

बहुत गालियाँ बक रहा था तुम्हें ?'

बोधन तिवारी कुछ देर चुप रहे। बोले, 'उससे क्या होता-जाता है।'

'आखिर बात क्या है ?'

'बात कुछ नहीं, रामदीन को तो तुम जानते ही हो। बेचारे के पास कुल दो बीघे खेत हैं ठाकुर की तलैया के ऊपर। उसमें भी आधा तो कुछ चढ़ के है; आधा ठीक मुंह पर ही। चित्रा बरसी नहीं; स्वाती में भी पानी की कोई उम्मीद नहीं है। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची है। ऐसा सूखा तुमने कभी देखा था ! अरे भई, एकदम पानी न बरसे या थोड़ा बरस कर बन्द हो जाए तो कोई बात भी है। शुरू में तो इतनी बारिश कि चारों ओर चाँदनी उग आयी, सबने हर साल से ज्यादा खेती की। और धान देखते हो, जैसे खेत फट जाएंगे [किसान को पूरा सूखा बर्दाश्त हो जाता है, परती सह जाती है, मगर खड़ी फसल का सूखा तो जैसे लड़के की लाश निकलती हो] मैं अपने महुवे वाले नाले के पास दोन डाले था कि रामदीन आकर पैर पर गिर पड़ा। बोला, दादा आज मदद नहीं करोगे तो गाँव छूट जाएगा। रामदीन घर का अकेला आदमी, उसके पास न दोन न दौरी, तलैया में पानी का टोटा था। एक साथ पचास लगने वाली थीं। मेरा खुद सूख रहा था पर उसकी न देखी गयी सो चला गया। दोन लगी, तो ठाकुर का लड़का आकर बोला—कौन है जी, आज किसी की न लगेगी। रामदीन के तो तोते उड़ गये; पैरों पर गिर पड़ा। मैंने कहा—अकेला जीव है बेचारा, दो ही बीघे का आसरा है, मान जाओ अकेले कितना पानी उलीच लेगा।'

'वह न उलीच लेगा तो तुम जो दैत्य से खड़े हो, तुम तो उलीच लोगे।' और उसने दोन छुड़ा दी।

मैंने कहा, 'तो इसमें क्या होता-जाता है। कल ही लगेगी।'

ठाकुर का लड़का चला गया तो रामदीन बोला, 'दादा तुम जानते नहीं, दोन तो इनकी लगेगी आज ही। देखते नहीं, अनुवा तैयार है।

हम गये नहीं कि दोन लगी और फिर रात भर में पानी ग़ायब।'

'मैंने देखा उसकी आँखों में सूना जेठ छा रहा था। बोला—अरे जा भी, कहा है तो कल ही लगेगी। तू जा जा, चुपचाप सो। रात में अपनी दूँगा। कल भोर में ज़रा तड़के आ जाना।'

इतना कह कर बोधन तिवारी चुप हो गये।

'फिर क्या हुआ?' मैंने पूछा।

'हुआ क्या, दोन तो ठाकुर की लगती ही। नीयत में बेईमानी थी। मैंने घर से कुदाल ली और चुपचाप तलैया पर जाकर सभी अनुवे काट कर फेंक दिये। अनुवा ठीक करने में बारह घंटे से कम नहीं लगता। रात गए दोन लेकर आये तो सबों ने देखा अनुवा गायब। गाली-गलौज करके रात में अनुवा ठीक करते रहे, सुबह दोन लगी। हम भी पहुँचे, बेचारे का एक टोपरा तो उछल ही गया।'

बोधन तिवारी ठहाका मार कर हँस पड़े। और फिर एकदम शांत। ऐसे मौक़ों पर बोधन तिवारी कितने शांत लगते हैं; यह देखने की चीज़ है। मुझे याद है परसाल चैत के दिनों में ईख भरी जा रही थी। एक दिन सुबह ही सुबह बोधन तिवारी लाला वाले कुएँ पर पुर से पानी दे रहे थे। अभी मुश्किल से नाली में पानी रेंगा ही था कि लाला आये।

'कौन है जी, आज किसी की पुर न चलेगी, छोड़ो अभी।'

'क्या बात है मुंशी, इतने बिगड़े काहे हो?' तिवारी ने पूछा।

'बिगड़े-उगड़े कुछ नहीं सा'ब, आज अपनी नधेगी, दुनिया भर की भलाई लेकर क्या भूखों मरेंगे। घर में दिया बार कर मंदिर में जलाते हैं।'

'नाधो, पर ऐसा तो कभी न हुआ मुंशी। उलटी गंगा मत बहाओ। जिसकी पहले नध जाती है, उसका भी कुछ हक़ होता है। चार बिस्वे की बिसात ही क्या है; शाम तक का मामला है।'

'यहाँ घंटे में घर जलता है वहाँ शाम का मामला है—इतनी जल्दी

है तो एक कुआँ बनवा लेते तो देखता।'

बोधन ने लाख कहा; पर मुंशी ने न माना और ज़मीदारी के रोब में नौकरों को बुलवा कर पुर छिनवा ली। बोधन ने कुछ कहा नहीं चुपचाप चले गये।

रात बीती, सुबह देखा तो लाला के कुएँ पर हंगामा खड़ा है। लाला जी अपनी बेंत की मुट्ठीदार छड़ी हाथ में नचाते पैंतरे बदल रहे हैं।

'एक-एक को हवालात न भेजा तो कायस्थ नहीं। क्या समझ लिया है बच्चू ने। न भुलवा दी शेखी तो नाम नहीं।'

मैंने पास जाकर देखा तो दंग रह गया। किसी ने ऊपर से दो पुरसा कुंआ खोद कर नीचे डाल दिया है। चैत की सूखी ईंटे, कंकड़ अब भी नीचे से बुज्जियाँ छोड़ रहे हैं और केवल एक चार अंगुल पानी इधर-उधर रेंग रहा है, लगता है वह भी घंटे आध घंटे में सूख जाएगा।

मैं लौटा तो देखा इसी पीपल के नीचे बोधन तिवारी बैठे हैं। पूरे गाँव में उत्तेजना थी, सबके दिल में धड़कन थी और ये हैं बोधन जो चुपचाप, जैसे कुछ जानते नहीं। जैसे उन्होंने अपना कर्तव्य मात्र कर दिया है, अब उसके लिए गुल-गपाड़ा मचे तो क्या करें।

इन कृत्यों से बोधन तिवारी गाँव में बहुत बदनाम हैं। कोई इन्हें छुपा रुस्तम कहता है, कोई पगली का लड़का, कोई सामने निन्दा करता है; पर दिल में खौफ़ खाता है। रामदीन बोधन को देवता मानता है, लाला जी पहले नम्बर का हरामी। अब आप ही बताएं ऐसे विचित्र आदमी को कहानी का हीरो बनाना क्या खतरे से खाली है।

शाम घिर आयी, क्वार की मनहूस शाम जिसमें चुपचाप अपने नंगे पैर बढ़ा कर भुखमरी ग़रीबों के घरों में घुस जाती है। मलेरिया चेचक और न जाने कितनी भयानक बीमारियों के ज़हरीले काटाणु हवा में तैरने लगते हैं। बोधन तिवारी ने एक गम्भीर साँस ली जैसे इस पूरे

वायु-मंडल को पी जाना चाहते हों।

'अरे कौन, देखना तो वह छब्बी है ?' बोधन तिवारी ने आगे इशारा करते हुए कहा। ताल के नीचे, पानी के पास एक औरत खड़ी थी।

'लगती तो वैसे ही है ?' मैंने कहा।

तिवारी कुछ चंचल से हो गये।

'अरे छब्बी' तिवारी ने ललकारा, 'अरे सुनती तो जाओ।'

छब्बी चुपचाप आकर उनके सामने खड़ी हो गयी।

'क्या है छब्बी रानी !' तिवारी ने चेहरे को विकृत करके कहा। थोड़ी झेंप भी आयी पर जैसे बहुत दिनों तक अभ्यास किया हो, बोले, 'अरे ज़रा ग़रीबों की ओर भी तो नज़र उठा दिया करो।'

छब्बी चुप रही। जैसे वह तिवारी की ओर देखने का साहस एकत्र कर रही हो।

'आज कल तो छब्बी, तेरी देह से रूप फटा पड़ता है।'

छब्बी ने कुछ नहीं कहा। मैंने देखा उसकी आँखों से आँसू की बूँदें टपक कर धरती में खो गयी हैं जिन्हें शाम के धुँधलके में तिवारी देख न पाये।

'अच्छा नहीं बोलती, तो जाओ !' तिवारी ने कहा और छब्बी चुपचाप चली गयी।

छब्बी जात की चमार है। चमारों में इतने साफ़ कम दिखाई पड़ते हैं। गोरी चिट्टी तो नहीं, रंग गेहुवाँ है। छब्बी विधवा है [विधवा-विवाह चमारों में प्रचलित है, पर छब्बी से कोई विवाह नहीं कर सकता] छब्बी को जिसने दो-तीन साल पहले देखा होगा, उसे आज इसे देख कर आश्चर्य होगा। कहाँ छब्बी राह चलते लोगों से छेड़खानी करती, तिवारी को तो वह परेशान कर देती, कहाँ अब वह गऊ की तरह सीधी हो गयी है। वह तिवारी की ओर आँख भी नही उठाती।

अगहन की वह रात गाँव वालों के लिए आज भी रहस्यपूर्ण बनी

हुई है। उस साल धान खूब हुआ था। पूरब की पटपरी पर पुआल का ढेर लग गया। चारों ओर जैसे छोटी-छोटी शिखर-हीन पहाड़ियाँ छाती ताने खड़ी हैं। बोधन तिवारी अपने खलिहान में ही सोते। चाँदनी रात थी। अगहन की चाँदनी, काग़ज़ की तरह साफ़। थोड़ी ही रात गयी थी कि कोई ज़ोर से चिल्ला उठा। आवाज़ औरत की थी। तिवारी ने लाठी ली और लपके। उन्होंने देखा कोई रात के अँधेरे में भागते पैरों की ध्वनि की लीक बनाता ग़ायब हो गया है। देखा आगे छब्बी खड़ी थी। आस-पास और भी बहुत से आदमी खड़े थे! सबके चेहरे पर विचित्र प्रकार का आतंक और रहस्य छाया था।

'बोलती क्यों नहीं हरामजादी!' बड़े पंडित की आवाज थी। सभी जैसे काँप उठे। किसे पता था कि रात में इस जगह अचानक बड़े पंडित आ जाएँगे। छब्बी का तो रोम-रोम काँप उठा। उसने चुपचाप बोधन तिवारी की ओर गर्दन हिला दी। वह यह कैसे कहे कि रात में औरत की अस्मत पर धावा करने वाला और कोई नहीं बड़े पंडित का लड़का ही था।

बड़े पंडित की आँखे फट पड़ीं 'क्या, बोधन?' आवाज में विचित्र तीखापन था। पास वाले घबड़ा गये।

'जी' बोधन ने कहा और जैसे स्वीकृति में गर्दन झुका ली। सभी चुपचाप चल पड़े। बोधन को गांव लाख बुरा समझता था। वह भद्दा था, झक्की था, पागल था; पर उसके चरित्र में किसी को अविश्वास न था। पर वह आज उस आसन से भी गिर पड़ा। एक दूसरे से कुछ कहना चाहते; पर कोई कुछ न कह सका। सब खामोश चलते गये [कई दिनों के विवाद के बाद बोधन तिवारी जाति-बहिष्कृत कर दिये गये] चमारों ने छब्बी को बहुत पीटा और उसका अपने घरों में आना-जाना बन्द कर दिया। 'मूर्ख गिरी भी तो नरक में। भला उस दरिद्र बदसूरत में कौन-सी ऐसी चोज़ थी कि इसने अपनी पत खो दी।'

एक दिन इसी पीपल के नीचे बोधन तिवारी बैठे थे। छब्बी आयी

और वह उनके पैरों पर गिर पड़ी।

'मुझे माफ़ कर दो तिवारी दा, मैंने पाप किया है, गऊहत्या की है।'

तिवारी ने उसे बहुतेरा समझाया-बुझाया, 'उठ उठ छब्बी, जा घर, किसी चीज़ की कमी पड़े तो कहना। आज से तू मेरी हुई।'

बोधन तिवारी के ये शब्द उस ग़रीब औरत के हृदय में चुभ गये। बोधन तिवारी ने छब्बी की हर तरह से मदद भी की। सूखे में भूखे रहे; पर उसे अनाज दिया।

छब्बी उदास रहती है, पता नहीं उसे क्या पीड़ा है। बोधन तिवारी उसे प्रसन्न करने के लिये औसत से ज्यादा वाचाल हो जाते हैं, उससे छेड़खानी करते हैं; शायद पता नहीं कि उनका यह भोलापन उस दुखिया की आँखों से आठ-आठ आँसू बहा देता है।

छब्बी चली गयी। मेरा मन न जाने कैसा हो गया।

'क्यों दादा!' मैंने पूछा, 'आपके जीवन की सबसे मशहूर घटना क्या है?'

बोले, 'क्या करोगे पूछ कर?'

'यों ही!' मैंने कहा। मैं यह कैसे कहता कि कहानी के लिए हीरो के जीवन की सबसे मशहूर घटना को क्लाइमेक्स बनाना होता है।

'वह तो अभी आयी नहीं।' तिवारी बोले।

मैं हताश हो गया। बोला, 'आपका मतलब शायद मौत से है।'

तिवारी खिलखिला कर हँस पड़े 'वह तो कई बार आकर लौट पड़ी।'

मैं हतप्रभ रह गया। ठीक ही तो है, बोधन तिवारी की ज़िन्दगी में मौत का क्या ख़ौफ़। फिर पता नहीं, कौन-सी घटना आएगी। ख़ैर, आएगी एक दिन वह ज़रूर और वह मौत से भी बुरी होगी। तब तक हम पाठकों के साथ इन्तज़ार करें और सोचें कि ऐसे अपशकुन आदमी को क्या किसी कहानी का हीरो बनाया जा सकता है?

महुवे के फूल

चमकती-सी नदी की धार में मुर्दे की तरह मनहूस रेती के निकल आने पर भी मन को ऐसी पीड़ा नहीं होती जैसी आज सहसा सत्ती को देखने से हुई। पीले गुच्छों वाली अमलतास की खूबसूरत डाल के टूट जाने पर भी इतना ग़म शायद ही हो। मन को बार-बार समझाता हूँ कि तबदीली दुनिया का प्रकृत नियम है, इसमें अफसोस क्या; पर लाख भुलाने पर भी आज की, दुःखों में पिसी अपने में केन्द्रित सत्ती की इस काया में एक ऐसी तस्वीर दिखाई पड़ती है जो मन को बार-बार मथ देती है।

सत्ती नाम सत्ती को खुद पसन्द नहीं था और अक्सर किसी बड़े-बूढ़े के पूछने पर वह अपना नाम बताती सविता, जिसका उपयोग उसकी ज़िंदगी में एक ही बार हुआ, और वह भी तब जब वर-पक्ष के पुरोहित ने विवाह-मंडप में लड़की का नाम पूछा। अन्यथा गाँव के लोग-बाग उसे सत्ती ही कहते जिसके लिए वह प्रायः अपने हमजोलियों से बहुत चिढ़ती क्योंकि उसकी मां ने कहा था कि लड़के इस मानी में बहुत शरारती होते हैं और जिसका नाम बहुत अच्छा होता है उसे ही बिगाड़ने की कोशिश करते हैं।

सत्ती की सबसे प्यारी सहेली थी चम्पा। दोनों में दाँतकाटी दोस्ती थी। चम्पा के बिना सत्ती और सत्ती के बिना चम्पा का कहीं भी हो सकना गाँव के अख़बार की सबसे मशहूर घटना थी। कभी-कभी तो दोनों की इस छाया-पुरुष दोस्ती पर सत्ती की माँ बहुत व्यंग भी करतीं। एक बार चम्पा को देखकर बोलीं—'अरे चम्पी, सुन तो बिटिया। बेचारी चम्पी किसी गंभीर प्रसङ्ग के सुनने के लोभ से पास पहुँची तो वे बोलीं—'क्यों रे, तुम दोनों मुर्दघट्टी वाले पीपल पर जल क्यों नहीं चढ़ातीं?' दोनों चुपचाप सुनती रहीं। 'मनौती मानो बिटिया, भगवान करे तुम दोनों में एक लड़का हो जाय।' हँसी फूटती, और वे कहतीं, 'फिर तो काम बन जाय, दोनों की शादी कर दूँ। फिर कभी साथ न छूटे। चम्पी के महुवे के फूल से गाल पर गुलाब झांकते और वह बिना ऊपर देखे चुपचाप खिसक जाती।

यों मेरे गाँव के चारों ओर का सिवान अपनी खूबसूरत चौहद्दी के लिए मशहूर है; पर दक्खिन वाली महुली की कुछ और बात है। उत्तर में गाँव के भूरे-भूरे घरों को चीरती हुई एक पगडंडी गंगा के किनारे तक चली जाती है जो पास की बँसवारी से लटक कर भटवाँस, हिंगुआना और नारुन आदि के कटीले पौधों में खो गई है। यह पगडंडी शाम को हजारों कहानियों को गुमसुम सुनती है जो नदी से पानी लाने वालियों के मुँह से बिना मतलब कही जाती हैं और जिन्हें कहने में उन्हें जरा भी मोह-ममता नहीं। एक ज़माना था जब इस पगडंडी पर सत्ती और चम्पी की कहानियाँ ही चलती रहीं जो सब यह पगडंडी अपने दिलमें छिपाये निश्चेष्ट पड़ी है।

फागुन के दिन दक्खिन की महुली के लिए शादी के दिन हैं। चैत चढ़ते-चढ़ते जैसे ही आम के बौर, नीम के फूल झड़ते हैं, महुवे अपनी जवानी की उमंग में होते हैं। उस साल महुली में फूलों के पटरे पड़ गये। अकेली मुसम्मात हरकल्ली जब इतने सारे महुवों को सँभालने में असमर्थ हो जाती है तो गाँव-घर को न्योता बाँट आती है।

इस बार ज्योंही सत्ती ने ड्योढ़ी लाँघना चाहा, उसकी माँ ने उसे देखा। उनकी भौंहें खिंच गईं और उन्होंने आँखें तरेर कर ऐसा मुँह बनाया कि वह उनकी ओर देख भी न सकी। महुली सत्ती के लिए कोई अनजानी जगह नहीं है। वह इस महुली को दस साल से जानती है। आम, कटहल, लोची का हर पेड़ उसका पहचाना है। महुवों की जड़ों में बैठकर वह घंटों खेलती रही है। महुवों का वह गाना तो उसे आज भी याद है :

टीप के टपाक से कपार काहें फोड़े
ठेंगे से, बोंगे से, रात काहे डोले

कहानी बड़ी ही दिलचस्प है। एक बार चैत की सुहानी रात में जब महुवे उमंग में थे, एक काला-सा सांप अपनी शान में ऐंठा नीचे से गुज़रा।

टप् टप् टप्। गोल-गोल ओले से फूल उसकी पीठ पर चू पड़े। बेचारा बड़ा घबड़ाया। सीना तान कर खड़ा हो गया। बोला, 'ऐसी शरारत? कौन है जी? मेरा सर क्यों फोड़े डालते हो?'

महुवे के फूलों की परियाँ खिलखिलाईं, कल्ले-से लाल-लाल अँगूठे हिला कर बोलीं–'ठेंगे से! तुम्हें शर्म नहीं लगती? रात को क्यों चलता है?' बेचारा साँप क्या करता! चुपचाप अपना-सा मुँह लिये चला गया।

मुझे ठीक पता नहीं सत्ती को यह कहानी मालूम है कि नहीं। खैर, अब सत्ती उस महुली में नहीं जा सकती क्योंकि उसकी माँ ने साफ़ कह दिया कि अब वह बच्ची नहीं है। जवान हुई है। उसे आगा-पीछा सोच कर पाँव रखना चाहिए।

मुसम्मात हरकल्ली के कोई न था। एक लड़की थी जिसकी शादी हुए मुद्दत हुई। उनका पति कलकत्ते के किसी सेठ के यहाँ जमादार था। कलकत्ते के किसी दंगे में उसने पता नहीं सेठ की जान बचाई या कुछ और किया, उसे एक लम्बी रक़म हाथ लग गई। रातोरात बड़ा आदमी बन बैठा। पक्का मकान खड़ा कर लिया। देस-दिहात में उसकी इज्जत

हो गई। नामी-गरामी रईसों का महाजन बन बैठा। पर भगवान को यह सब जैसे मंजूर न था, सो वह पचास-पचपन की उम्र में मर गया। मुसम्मात हरकल्ली अब भी अपने 'उनकी' बातों का बखान करते नहीं थकतीं। गाँव की औरतें भगवान् की अपरम्पार लीला का नाम लेकर उन्हें ढाढ़स देती हैं। इसमें किसी का बस ही क्या, वरना अभी बेचारे की उमर ही क्या थी। मुसम्मात अब बूढ़ी हो गई हैं। आँख से भी कुछ कम दिखाई पड़ता है, इसलिए उन्होंने अपना सब काम-काज सँभालने के लिए अपनी बहन के लड़के को बुला लिया।

भीतर का दालान पूरे घर से कटा है, इसी में मुसम्मात हरकल्ली का भतीजा हीरा रहता है। हीरा की उमर क्या होगी कोई पचीस-छब्बीस बरस। मोटा इतना है कि चलने पर उसके महीन कुर्ते के भीतर दलकी पैदा हो जाती है। दिन भर अजगर की तरह सोया रहता है, सो देह बड़ी ही पिलपिली है [बेचारा जब छोटा था तभी शीतला के चक्कर में पड़ गया। गर्मी की खरी दुपहरिया में ज़रा-सा बाहर निकला कि रथ की हवा लग गयी। देवी रुष्ट। कहिये यह, कि नीम की पत्ती की मनौती और न जाने बीसों उपाय हुए तब कहीं बेचारा बच सका] फिर भी उसका पूरा चेहरा दीमौट की तरह खुदखुदा है। इसी हीरा का गहरा दोस्त है, धन्नू भगत का लड़का टीमल, जो इधर नाम बदल कर टीमक-चन्द हो गया है। कलकत्ते में किसी पटसन की मिल में काम करता था सो थोड़ा टीम-टाम से रहता भी है। दोनों में खूब पटती है। आजकल गर्मी के दिनों में जब पूरे पाँच के पहले घर से बाहर निकलना भी मुश्किल है, टीमल हीरा की दालान में दोपहर से ही जम जाता है। ताक-झाँक की सौ बातें करता है। हीरा को उसके वादे के लिए सावधान करता है और माथा पर ज़ोर दे दे कर किसी भारी योजना में योग देता है। शामको भाँग छनती है, दोनों घुटके चढ़ाते हैं और किसी शिकार की टोह में गंगा के कछार की ओर चल देते हैं।

इधर जब से सविता की शादी की बातें उठने लगी हैं, उसकी सारी उमंगें बैठ गई हैं। पन्द्रह-सोलह साल की लड़की के दिल में जैसे बचपन की तमाम शरारतें सो गईं। अब न तो वह चौकठ पर बैठ कर राह चलने-वालों को बेमतलब टोक कर उनका गाँव पूछती है और न तो अब हरकल्ली की महुली में चाक-चकई का खेल ही होता है। शाम के समय वह नदी ज़रूर जाती है क्योंकि घर में पानी लाने का और कोई उपाय नहीं। वह खुद कभी-कभी सोचती है कि वह इतनी गंभीर क्यों होती जा रही है तो उसे बुरा मालूम होता है। फिर भी जब उसके घर कभी-कभी चम्पा आ जाती है, माँ कहीं पास-पड़ोस में लड़की की शादी की दिक्क़तें सुनाती होती हैं, दोनों बेबात की बातों से घर के हर हिस्से को अपनी धमा-चौकड़ी से कँपा देती हैं। उस दिन सत्ती अपनी माँ के साथ आँगन में बैठी हुई थी। बात रह-रहकर मुसम्मात हरकल्ली की महुली पर ही आ जाती, क्योंकि इस साल तो महुवों ने नाक में दम कर दिया था। मुसम्मात के पूरे आँगन में सूखने के लिए महुवे बिछे थे और सूरज की रोशनी में उमस कर बड़ी ही मादक गंध छोड़ते थे जो घर की दीवालों को लांघ कर गली में भर गई थी। उसी समय बाहरी निकसार से चम्पी ने झाँका। सत्ती को उसकी माँ के साथ देख उसने अपनी उँगलियों से आने का इशारा किया। खैर, उसकी माँ उठकर बाहर चली गईं और सत्ती ने चम्पा को भीतर ही बुला लिया। आज चम्पी का चेहरा बड़ा उतरा था जैसे बेचारी बड़ी देर तक रोती रही थी।

'क्या बात है चम्पी ?' सत्ती ने जैसे उसके सदा हँसनेवाले चेहरे पर कोई नयी बात देखी।

और चम्पी सुबुक-सुबुक कर रोने लगी। लड़कियाँ यों भी रोने में बड़ी तेज़ होती हैं। इसमें भी चम्पी बेजोड़ है। ज़रा-सी प्रतिकूलता हुई, कहीं किसी बात से ठेस लगी, झट उसकी आँखों में बरसात उमड़ी। सत्ती उसकी इस भीरुता को पहचानती है। उसने इसे बार-बार सहला

कर चुप किया और बोली, 'कहो भी, क्या बात है ?'

चम्पी ने थोड़ा शर्माते हुए पूछा, 'तुम उसको जानती हो ?'

'किसको ?'

'अरे उसी मुसम्मात हरकल्ली के भतीजे को !' चम्पी बोली, 'वह बड़ा बदमाश है।' और आगे कुछ कह न सकी।

सत्ती हीरा को खूब जानती है। वह उसकी हर शरारत उसके मुंह की रेखाओं में पढ़ जाती है। हीरा ने सत्ती पर कम नजरें नहीं डालीं; पर वह भी जानता है कि सत्ती आफ़त की परकाला है। इसे छेड़ना खुद आफ़त मोल लेना है।

'कुछ कहा है उसने ?' सत्ती बोली।

भीरु चंपा की आंखों में फिर पानी भर आया, 'तुम शायद नहीं जानतीं। घर से निकलती भी तो नहीं। आजकल नदी के किनारे, गली की मोड़ पर जहाँ सुनो चंपा और हीरा की झूठी कहानियाँ चलती हैं। और वह है कमीना, कि मुझे देखकर बिना मतलब छाती पर हाथ रखकर भद्दे गाने गाता है। नदी के किनारे खड़े होकर चिल्लाता है। इधर-उधर ताक-झाँक कर भूत की तरह मँडराता है। मैं तो सत्ती, परेशान हो गई। तुम्हीं सोचो, यदि ये बातें माँ सुनेगी तो क्या कहेगी ? तुम तो उस धन्नू भगत के लड़के को जानती हो न ? वह भी कलमुहां छैला बना फिरता है।

'हुं, यह बात है ?' सत्ती बोली। उसके सफेद गालों पर गुस्से की एक लहर-सी दौड़ी। फिर भी उसने हँसते हुए कहा 'पर एक बात है चंपी, मुसम्मात तो अब मरने ही वाली है। पूरी जायदाद का मालिक यही हीरा होगा। कर ले न शादी !' और ज़ोर से चंपी को चुटकी काट कर हँस पड़ी।

शाम होते-होते सूरज का दहकता गोला ठंढा पड़ जाता है। सिंदूरी प्रकाश गंगा की छाती पर तवे की तरह काला होकर फैल जाता है।

इस झीनी श्यामता को चीरती हुई गंगा की दूधिया लहरें खिल-खिलाकर बहती हैं। बीच में एक रेती उठ आयी है। लहरें अपने आप टकरा जाती हैं और गंगा का सुनसान किनारा इन दिनों इस आवाज़ से गूंजता रहता है। हीरा इसी किनारे की पगडण्डी पर बैठा किसी की प्रतीक्षा करता रहता है। वह जंगली सूअर से भी अधिक चौकन्ना है। किसी तरह की आहट मिलते ही आँखें फैला देता है। आ जाने पर उठ कर मँडराने लगता है, न आने पर किसी भद्दे-से गीत पर सीटियाँ बजाता है।

सामने से एक आकृति को आते देखकर वह चौंका। खुशी से उठा और आगे जाकर बीच रास्ते पर खड़ा हो गया। पर वह चम्पा नहीं, सत्ती थी। और हीरा की आत्मा उसे देखकर ही काँप उठी। वह आने वाले भय से विचलित हो गया और हाथ जोड़ कर बोला 'ग़लती हो गई, सत्ती बहन।'

सत्ती मुस्कराई, 'कहो हीरा, अच्छे हो न? यहाँ क्या बैठे हो?'

'ऐसे ही' हीरा को थोड़ा ढाढ़स हुआ। धीरे से बोला, 'क्यों सत्ती बहन, आजकल तुम्हारे साथ चंपा नहीं दिखाई पड़ती।'

सत्ती ने एक गम्भीर साँस ली, 'क्या करे, बिचारी बीमार-सी है। बुखार-उखार तो क्या है, ऐसे ही पड़ी रहती है। दुनिया किसके सुख-दुख में साथ देती है, भाई।' सत्ती ने कहा, और चलने लगी।

हीरा उतावला-सा हो गया। उसे कुछ लक्षण अच्छे मालूम हुए। उसने सिनेमा के किसी चित्र की विरहिणी नायिका की कल्पना की और मारे खुशी के हल्का हो गया जैसे उड़ने लगेगा।

'क्यों, मैं चंपा को देख सकता हूं सत्ती बहन?'

'तुम, हुँ! यह दया कहाँ से उपजी। वह तो बिचारी तुम्हारे नाम पर मर रही है, तुम गाने गाते हो, सीटियां बजाते हो, तुम देखोगे उसे?'

हीरा सत्ती के पैरों पर पड़ गया। और किसी तरह सत्ती ने वादा किया कि वह कल शाम को चम्पा के घर आये। दरवाज़े पर सत्ती खुद

खड़ी रहेगी। हाँ, उसे ज़रा सावधान होकर आना चाहिए। गाँव-गिराँव की बात ठहरी। किसी ने देख लिया तो नाहक़ बदनामी होगी।

उस रात हीरा को नींद नहीं आयी। सुबह हुई और वह करवट बदल कर एक भद्दा-सा गीत गुनगुना उठा। झट उठा। जैसे उसके जीवन का आज नया सवेरा था। हर चीज़ उसे नयी लगी। पहले से बदली, पहले से खूबसूरत। उसने किसी-किसी तरह लम्बा दिन काटा। आज उसने अपनी सबसे महीन धोती निकाली। अद्धी का कुरता पहना, बूट पर ब्रश किया और एक पुरानी शीशी की काग खोलकर उसका इत्र कपड़े पर चुपड़ लिया। शीशे में मुँह देखकर उसने तेल मलकर उसे चिकना किया और बहुत बन-ठनकर घर से बाहर निकला।

मन में किसी ने कहा 'और यदि सत्ती धोखा दे तो ?' वह बार-बार मन को समझाता चला गया और जब उसने चंपा के दरवाज़े पर सचमुच ही सत्ती को खड़ी देखा तो उसकी सारी शंकाएँ अंधड़ के बादल की तरह अपने आप छँट गईं।

'तुम आ गये' सत्ती बोली, 'मैं तो उसे समझा कर परेशान हो गई, उसे विश्वास ही नहीं होता। चुपचाप मुँह लटकाए बैठी है।'

हीरा अपने भाग्य को सराहता, सत्ती की तारीफ़ के पुल बाँधता, धीरे-धीरे चलकर आँगन में खड़ा हुआ। सत्ती ने बढ़कर एक घर का दरवाज़ा खोल दिया।

'आ जाओ, हीरा ! बाहर क्यों खड़े हो ?' कहा उसने। हीरा चुपचाप कमरे में आया। उसमें कोई नहीं था। बग़ल में चारपाई थी जिसके भीतर एक दरी मालूम होती थी। सिरहाने एक अच्छा-सा तकिया भी रखा था। 'बैठो, मैं उसे भेजती हूँ।' सत्ती ने कहा, और वह दरवाज़े की ओर मुड़ी। हीरा के पैर जैसे पृथ्वी पर नहीं पड़ते थे। वह बड़े ही उत्साह से धम्म से चारपाई पर बैठा त्यों ही एक 'तड़ाक्' की आवाज़ हुई। वह एकदम ज़मीन पर गिर पड़ा। उसका सिर बुरी तरह खाट की

पाटी से जा टकराया। उसकी गर्दन एक पाटी पर थी और पैर दूसरी पर लटके थे और वह बीच में बंदर की तरह झूल रहा था। इधर सत्ती और चम्पा दोनों तालियाँ पीट-पीट कर हँस रही थीं। बुरी हालत थी। वह किसी तरह उठा। सिर में तेज़ चोट आई थी और वह अब भी भन्ना रहा था।

सत्ती को देखकर गुस्से में बोला 'अच्छा-अच्छा, समझ लूंगा, सत्ती! चुड़ैल से बदला नहीं लिया तो कहना। तुमने ऐसा किया?'

'हाँ हाँ, मैंने ऐसा किया' सत्ती ने होंठ खींच कर कहा 'बड़ा आया है मुहब्बत करने। तुझे शर्म नहीं लगती? तू गाँव की लड़कियों के पीछे चक्कर मारता है?' हीरा ने कुछ कहा नहीं। वह चुपचाप मुँह लटकाए कमरे के बाहर हो गया। सत्ती बड़ी देर तक चंपा से बातें करती हँसती रही।

और आज मेरे सामने वही सत्ती खड़ी है जिसे पहली नज़र में देखने से विश्वास नहीं होता। बुझती हुई दिये की बाती, म्लान शाम की रोशनी से भी करुण सत्ती को देख कर पीड़ा होती है। हँसोड़, महुए के फूल की तरह कोमल, मादक और तितलियों की तरह चंचल वह लड़की पिछले एक साल के अन्दर ही एक औरत बन गयी है जिसकी गोद में एक बच्चा है और उसकी आँखों में अपने-सा ही बेमनापन।

अभी पिछले साल सत्ती को शादी हुई है। शादी की बात तो बहुत पहले से चल रहीं थी; पर कोई ठीक न हो सको। बाप पास के क़स्बे में नौकरी करता था। तनखाह के मामूली रुपये परिवार के खर्च-वर्च में ही सट जाते थे। फिर शादी के लिए कुछ बचा सकना बड़ा मुश्किल था। कहीं कम रुपये में लड़का ठीक होता तो सत्ती की तुलना में रखने से बुड्ढे की आत्मा काँप उठती; लड़के अच्छे मिलते तो भाव भी ऊँचे।

दिन बीतते गये। इधर इन्हें लड़की की शादी की फ़िकर खाये जाती थी, उधर बिना कुछ कहने-सुनने का मौक़ा दिये मुसम्मात हरकल्ली ने

अपने चार सौ रुपयों का दावा कर दिया। हीरा खुद इस मामले में बड़ी दिलचस्पी ले रहा था।

गाँववालों को ऐसे मौक़ों पर बड़ी दया आती है। सो लोगों ने बड़ा बीच-बचाव किया। दोनों ओर को बहुत नीच-ऊँच समझाया और होते-हवाते उस बुड्ढे बाप ने अपने को क़र्ज के रुपयों और लड़की के भार दोनों से मुक्त करने के लिए सत्ती की शादी हीरा से ठीक की।

बे-जुबान सत्ती ने इस निर्णय को सिर झुकाकर स्वीकार किया। इसके अलावा दूसरा कोई चारा भी न था। अकेले में बैठकर आँसू गारती और लाख सोचने पर भी बाप की इज्जत के सामने माथा टेक देती।

शादी के एक रात पहले की बात है। सत्ती की पूरी देह पता नहीं हल्दी के लगने से या किसी और वजह से एक दम पीली हो गई थी, और वह आंगन में एक चारपाई पर लेटी तारों को देखते-देखते सो गई। रात में चारों ओर निस्तब्ध सन्नाटा था तभी सत्ती जोर से चीख उठी। उसकी माँ हड़बड़ा कर उसके पास पहुँची।

'क्या है, क्या है बिटिया ?'

सत्ती सुबुक-सुबुक कर रो रही थी। माँ बहुत देर तक उसके बालों को सहलाती रही। पुचकार कर पूछा, 'क्या है, सत्ती ? कह बेटी, क्यों रोती है बच्ची ? बोल !'

माँ के लाख पूछने पर भी सत्ती ने कुछ कहा नहीं, और माँ को उसकी चारपाई पर भेजकर सो रही।

बात यह थी कि सत्ती ने एक सपना देखा था। देखा कि एक काला, मोटा-सा, पिलपिली देह का साँप जिसके बदन पर सफ़ेद रुपयों के आकार की चित्तियाँ बनी हैं, उसकी ओर आ रहा है और देखते ही देखते उसने सत्ती को अपने लंबे-चौड़े जबड़े में पकड़ लिया।

शादी हो गई। एक साल बीत गया, और आज मेरे सामने सत्ती खड़ी है। सत्ती ? हाँ, सत्ती हीं। और मुझे महुवों की पुरानी कहानी याद

आजाती है। उस रात को घूमनेवाले साँप को महुवों के फूल की परियों ने खूब छकाया। सत्ती ने भी वही किया। महुवे के वे फूल अब भी खिलखिलाते हैं। वे पवित्र हैं, पर महुवे के इस फूल को साँप लील गया। दूध से भरा मादक फूल खिलखिला भी न सका और वह उसके क्रूर जहरीले जबड़े में पिस गया।

दादी माँ

कमजोरी ही है अपनी, पर सच तो यह है कि ज़रा-सी कठिनाई पड़ते; बीसों गर्मी, बरसात और बसन्त देखने के बाद भी, मेरा मन सदा नहीं तो प्रायः अनमना-सा हो जाता है। मेरे शुभचिन्तक मित्र मुँह पर मुझे प्रसन्न करने के लिए आने वाली छुट्टियों की सूचना देते हैं और पीठ पीछे मुझे कमजोर और ज़रा-सी प्रतिकूलता से घबड़ाने वाला कह कर मेरा मज़ाक उड़ाते हैं। मैं सोचता हूँ, 'अच्छा अब कभी उन बातों को न सोचूंगा, ठीक है, जाने दो, सोचने से होता ही क्या है। पर बरबस मेरी आँखों के सामने शरद की शीत किरणों के समान स्वच्छ शीतल किसी की धुंधली छाया नाच उठती है।

मुझे लगता है जैसे क्वार के दिन आ गये हैं। मेरे गाँव के चारों ओर पानी ही पानी हिलोरें ले रहा है। दूर के सिवान से बह कर आये हुए मोथा और साई की अधगली घासें, घेऊर और बन-प्याज की जड़ें तथा नाना प्रकार की बरसाती घासों के बीज, सूरज की गर्मी में खौलते हुए पानी में सड़ कर एक विचित्र गन्ध छोड़ रहे हैं। रास्तों के कीचड़ सूख गये हैं और गाँव के लड़के किनारों पर झाग भरे जलाशयों में

धमाके से कूद रहे हैं। अपने-अपने मौसम की अपनी-अपनी बातें होती हैं। आषाढ़ में आम और जामुन न मिले, चिन्ता नहीं, अगहन में चिउड़ा और गुड़ न मिले, दुःख नहीं, चैत के दिनों में लाई के साथ गुड़ की पट्टी न मिले, अफसोस नहीं, पर क्वार के दिनों में इस गन्धपूर्ण झाग भरे जल में कूदना न हो तो बड़ा बुरा मालूम होता है। मैं भीतर हुड़क रहा था। दो-एक ही दिन ही तो कूद सका था, नहा-धो कर बीमार हो गया। हल्की बीमारी न जाने क्यों मुझे अच्छी लगती है। थोड़ा-थोड़ा ज्वर हो, सर में साधारण दर्द और खाने के लिए दिन-भर नींबू और साबू। लेकिन उस बार ऐसी चीज़ नहीं थी। ज्वर जो चढ़ा तो चढ़ता ही गया। रज़ाई पर रज़ाई—और उतरा रात बारह बजे के बाद। दिन में मैं चादर लपेटे सोया था। दादी माँ आयीं, शायद नहा कर आयी थीं, उसी झाग वाले जल में। पतले-दुबले स्नेह-सने शरीर पर सफेद किनारी-हीन धोती, सन से सफेद बालों के सिरों पर सद्यः टपके हुए जल की शीतलता। आते ही उन्होंने सर, हाथ, पेट छुये। बहुत ही धीरे से बुदबुदा कर कुछ बोलीं, शायद किसी देवी-देवता को जान के बदले जान देने की मिन्नत रही हो। फिर आँचल की गाँठ खोल किसी अदृश्य शक्तिधारी के चबूतरे की मिट्टी मुँह में डाली, माथे पर लगायी। दिन-रात चारपाई के पास बैठी रहतीं, कभी पंखा झलतीं, कभी जलते हुए हाथ-पैर कपड़े से सहलातीं, सर पर दालचीनी का लेप करतीं, और बीसों बार सर छू-छू कर ज्वर का अनुमान करतीं। नयी हाँड़ी में पानी आया कि नहीं? उसे पीपल की छाल से छौंका कि नहीं? खिचड़ी में मूँग की दाल एकदम मिल तो गयी है? कोई बीमार के घर में सीधे बाहर से आकर तो नहीं चला गया, आदि लाखों प्रश्न पूछ-पूछ कर घरवालों को परेशान कर देतीं [दादी माँ को गँवई-गाँव की पचासों किस्म की दवाओं के नाम याद थे। गाँव में कोई बीमार होता उसके पास पहुँचतीं और वहाँ भी वही काम। हाथ छूना, माथा छूना, पेट छूना]

फिर नज़र, टोना, भूत से लेकर मलेरिया, सरसाम, निमोनियाँ तक का अनुमान वे विश्वास के साथ सुनातीं। महामारी और विशूचिका के दिनों में रोज सबेरे उठ कर, स्नान के बाद, लवंग और गुड़ मिश्रित जलधार, गुग्गुल और धूप, टोना-टटका और सफाई कोई उनसे सीख ले। दवा में देर होती, मिश्री या शहद खतम हो जाता, चादर या गिलाफ नहीं बदले जाते, तो वे जैसे पागल हो जातीं। बुखार तो मुझे अब भी आता है। नौकर पानी दे जाता है, मेस-महाराज अपने मन से पका कर खिचड़ी या साबू। डाक्टर साहब आकर नाड़ी देख जाते हैं, और कुनैन मिक्सचर की शीशी की तिताई के डर से बुखार भाग भी जाता है, पर न जाने क्यों ऐसे बुखार को बुलाने का जी नहीं होता।

किशन भैया की शादी ठीक हुई, दादी माँ के उत्साह और आनन्द का क्या कहना। दिन-भर गायब रहतीं। सारा घर जैसे उन्होंने सर पर उठा लिया हो। पड़ोसिनें आतीं, हुक्का चढ़ता। बहुत बुलाने पर दादी माँ आतीं 'बहिन बुरा न मानना। कार-परोजन का घर ठहरा। एक काम अपने हाथ से न करूँ, तो होने वाला नहीं।' जानने को यों सभी जानते थे कि दादी माँ कुछ करती नहीं। पर किसी काम में उनकी अनुपस्थिति वस्तुतः विलम्ब का कारण बन जाती। उन्हीं दिनों की बात है। एक दिन दोपहर को मैं घर लौटा। बाहरी निकसार में दादी माँ किसी पर बिगड़ रही थीं। देखा पास के कोने में दुबकी रामी की चाची खड़ी है। 'सो न होगा धन्नो! रुपये मय सूद के आज दे दे, तेरी आँख में तो शरम है नहीं। माँगने के समय कैसी आयी थी। पैरों पर नाक रगड़ती फिरी, किसी ने एक पाई भी न दी। अब लगी है आज कल करने। फसल में दूँगी, फसल में दूँगी, अब क्या तेरी खातिर दूसरी फसल कटेगी?'

'दूँगी, मालकिन' रामी की चाची रोती हुई, दोनों हाथों से आँचल पकड़े दादी माँ के पैरों की ओर झुकी 'बिटिया की शादी है। आप न

दया करेंगी तो उस बेचारी का निस्तार कैसे होगा।'

'हट, हट, पैर न छू। अभी नहा के आ रही हूं' दादी माँ पीछे हट गयीं।

'जाने दो दादी', मैंने इस अप्रिय प्रसङ्ग को हटाने की गरज से कहा 'बेचारी गरीब है, दे देगी कभी।'

'चल, चल, चला है समझाने—'

मैं चुपके से आँगन की ओर चला गया। कई दिन बीत गये, मैं इस प्रसङ्ग को एकदम भूल-सा गया। एक दिन रास्ते में रामी की चाची मिली। वह दादी को पूतों फलो दूधो नहाओ का आशीर्वाद दे रही थी। मैंने पूछा, 'क्या बात है धन्नो चाची, तो उसने विह्वल होकर कहा 'उरिन हो गयी बेटा, बेटी की शादी भी तो रिन ही है न। भगवान् भला करे हमारी मालकिन का। कल ही आयी थीं, पीछे का सभी रुपया छोड़ दिया। ऊपर से दस रुपये का नोट देकर बोलीं 'देखना धन्नो, जैसी तेरी बेटी वैसी मेरी, दस-पाँच के लिए हँसाई न हो। देवता हैं बेटा देवता।'

'उस रोज तो बहुत डाँट रही थीं' मैंने पूछा।

'वह तो बड़े लोगों का काम है बाबू, रुपया देकर डाँटे भी न तो लाभ क्या!'

मैं मन-ही-मन इस तर्क पर हँसता हुआ आगे बढ़ गया।

किशन के विवाह के दिनों की बात है [विवाह के चार-पाँच रोज पहले से ही औरतें रात-रात भर गीत गाती हैं। विवाह की रात को अभिनय भी होता है। यह प्रायः एक ही कथा का हुआ करता है उसमें विवाह से लेकर पुत्रोत्पत्ति तक के सभी दृश्य दिखाये जाते हैं सभी पार्ट औरतें ही करती हैं] मैं बीमार होने के कारण बारात न जा सका। मेरा ममेरा भाई राघव दालान में सो रहा था। (वह भी बारात जाने के बाद पहुँचा था) औरतों ने उस पर आपत्ति की।

दादी माँ बिगड़ीं 'लड़के से क्या पर्दा। लड़का और बरह्मा का मन एक सा होता है।

'शादी हुई होती, तो एक साल में लड़का हुआ होता। अभी बने हैं बच्चे।' देवू की माँ बोलीं। वे बड़ी शरारती और चुहलबाज़ थीं। रिश्ते में हम लोगों की भाभी लगती थीं। मुझे भी पास ही एक चारपाई पर चादर उढ़ा कर दादी माँ ने चुपके से सुला दिया था। बड़ी हँसी आ रही थी। सोचा कहीं जोर से हँस दूँ, भेद खुल जाय तो निकाल बाहर किया जाऊँगा, पर भाभी की बात पर हँसी रुक न सकी और भंडाफोड़ हो गया।

'यह न लो'' देवू की माँ ने चादर खींच ली—'कहो दादी, यह कौन बच्चा सोया है। बेचारा रोता है शायद, दूध तो पिला दूँ।' हाथापाई शुरू हुई। दादी माँ बिगड़ी, 'लड़के से क्यों लगती है।'

'तो बनें यही औरत, इन्हीं को बच्चा पैदा हो। खूब सी-सी करें। मैं तो नहीं बनती।' मैं वहाँ से हँसता हुआ भागा। सुबह रास्ते में देवू की माँ मिलीं—'कल वाला बच्चा भाभी' मैं वहाँ से ज़ोर से भागा और दादी माँ के पास जा खड़ा हुआ। बस्तुतः किसी प्रकार के अपराध हो जाने पर जब हम दादी माँ की छाया में खड़े हो जाते, अभयदान मिल जाता।

स्नेह और ममता की मूर्ति दादी माँ की एक एक बात आज कैसी-कैसी मालूम होती है। परिस्थितियों का वात्याचक्र जीवन को सूखे पत्ते-सा कैसा नचाता है, इसे दादी माँ खूब जानती थीं। दादा की मृत्यु के बाद से ही वे बहुत उदास रहतीं। संसार उन्हें धोखे की टट्टी मालूम होता। दादा ने उन्हें स्वयं जो धोखा दिया। वे सदा उन्हें आगे भेज कर अपने पोछे जाने की झूठी बात कहा करते थे। दादा की मृत्यु के बाद, कुकुरमुत्ते की तरह बढ़ने वाले, मुँह में राम बग़ल में छुरी वाले दोस्तों की शुभचिन्ता ने स्थिति और भी डाँवाडोलकर दी। दादा के श्राद्ध में दादी माँ के मना करने पर भी, पिता जी ने जो अतुल सम्पत्ति व्यय की वह घर की तो थी नहीं।

दादी माँ अक्सर उदास रहा करतीं। माघ के दिन थे। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। पछुवा का सन्नाटा और पाले की शीत हड्डियों में घुसी पड़ती। शाम को मैंने देखा, दादी माँ गीली धोती पहने, कोने वाले घर में एक सन्दूक पर दिया जलाये, हाथ जोड़ कर बैठी हैं। उनकी स्नेह कातर आँखों में मैंने आँसू कभी नहीं देखे थे। मैं बहुत देर तक मन मारे उनके पास बैठा रहा; उन्होंने आँखें खोलीं, 'दादी माँ' मैंने धीरे से कहा।

'क्या है रे, तू यहाँ क्यों बैठा है।'

'दादी माँ एक बात पूछूँ, बताओगी न!' मैंने उनकी स्नेह-पूर्ण आँखों की ओर देखा।

'क्या है; पूछ।'

'तुम रोती थीं।'

दादी माँ मुस्करायीं 'पागल, तूने अभी खाना भी नहीं खाया न, चल चल।'

'धोती तो बदल लो दादी माँ' मैंने कहा।

'मुझे सर्दी-गर्मी नहीं लगती बेटा' वे मुझे खींचती रसोई में ले गयीं।

सुबह मैंने देखा चारपाई पर बैठे पिता जी और किशन भैया मन मारे कुछ सोच रहे हैं। 'दूसरा चारा ही क्या है,' बाबू बोले 'रुपया कोई देता नहीं। कितनो के तो अभी पिछले भी बाकी हैं' वे रोने-रोने से हो गये।

'रोता क्यों है रे'—दादी माँ ने उनका माथा सहलाते हुए कहा; 'मैं तो अभी हूँ ही।' उन्होंने सन्दूक खोल कर एक चमकती-सी चीज निकाली 'तेरे दादा ने यह कंगन मुझे इसी दिन के लिए पहनाया था।' उनका गला भर आया—'मैंने इसे पहना नहीं, इसे सहेज कर

रखती आयी हूँ। यह उनके वंश की निशानी हैं उन्होंने आँसू पोंछ कर कहा, 'पुराने लोग आगा पीछा सब सोच लेते थे बेटा।'

सचमुच मुझे दादी माँ शापभ्रष्ट देवी सी लगीं।

धुंधली छाया विलीन हो गयी। मैंने देखा दिन काफी चढ़ आया है। पास के लम्बे खजूर के पेड़ से उड़ कर एक कौआ, अपनी घिनौनीं काली पाँखें फैला कर मेरी खिड़की पर बैठ गया। हाथ में अब भी किशन भैया का पत्र काँप रहा है। काली चीटियों-सी कतारें धूमिल हो रही हैं। आँखों पर विश्वास नहीं होता। मन बार-बार अपने से ही पूछ बैठता है 'क्या सचमुच दादी माँ नहीं रहीं?'

देऊ दादा

गीले प्वाल की आग ऐंठ-ऐंठ कर सिकुड़ती गयी। पूरे अलाव पर ऊपर केवल निस्तेज राख की एक पर्त और उसके नीचे धीरे-धीरे सुलगती हुई धीमी आग। देऊ दादा ने ज़रा आगे बढ़ कर अपने रूखे, पीपल की छाल की तरह खुरदरे चामवाले हाथ से अलाव के ऊपर के झोल को हटाते हुए कहा, 'रग्घू, सर्दी तो जैसे पलथी मार के बैठ गयी है, हटाये हटती नहीं।' दादा ने अपने दोनों बलिष्ठ हाथों के बीच घुटनों को जकड़ लिया। रग्घू दादा का लँगोटिया यार था। सभी समय वह दादा के साथ रहता था। बड़े तीन लड़के पैरों पर उठ गए थे। घर की बड़ी जमनापाड़ी रग्घू के लिए अब भी कौतल थी। तीन सेर पक्का लोहे को तौल का दूध रग्घू लाकर अलाव में जमा देता। ताम्रवर्ण छाली को काटकर वह दादा की ओर बढ़ता। अखाड़े की धूल से निर्लोम, तप्त सिकुड़ी आग के वर्ण का हाथ और उसमें पितरिया कटोरा, दोनों दादा के लिए अपने से अधिक परिचित हैं।

'सुनो रग्घू, भई तुम मुझे कब तक खिलाते-पिलाते रहोगे। मुझे और भी तो कहीं जबाब देना है।' दादा मुस्कराते। रग्घू चुपचाप

उनकी उभड़ी हुई हड्डियों में घुसी आँखों में झाँकता, बड़ी अथाह, और न जाने रग्घू की झुर्रियों की आड़ी-टेढ़ी रेखाओं में कौन-सा चित्र होता कि दादा का विशाल वज्र-सा तना शरीर मोम का पुतला बन जाता।

माघ का पहला पखवारा अभी बीता नहीं था। दो-एक दिन और होंगे। बड़ी काली सर्द रात है। पूरे चार दिन की लगातार बारिश के बाद आज शाम को पश्चिम से सहमें-सहमें सूरज ने झाँका और अभी जाड़े की मार से स्याह खपरैलें मुश्किल से अँगड़ाई ही ले पायी थीं कि फ़िर वही ठंढ और दिल कँपा देने वाला पछुवा का सन्नाटा। जाड़े में ऐसी बारिश शायद ही कभी हो। नरबन का पूरा परगना जलमग्न हो गया। गर्मी में बारिश न होने से सूखा पड़ा। जाड़े की फसल की आशा थी। आज चैती के खेतों में छोटी-छोटी चलवा मछलियों के झुण्ड-सा पानी रेंग रहा था। ओले पड़ने से गेहूं टूट गये हैं। अलसी-मसूर तो उकठ जायँगी, और का हाल भगवान् जाने। गाँव के बहुत से रास्ते बन्द हो गये हैं। बदन साहु के पिछवारे वाला रास्ता स्कूल की इमारत गिरने से पट गया। स्कूल की दीवारें आधी खड़ी हैं। दिन-भर लड़के उस पर चढ़ कर मिट्टी में दबी लेजिमें, तख्तियाँ, कागज पर बनी तस्वीरें और मुन्शी जी का पीतल का लोटा देख-देखकर हँसते रहे। नीम वाली राह पर जगेसर साहु का घर बैठ गया। रमिया चमारिन आज सुबह भुनभुनाती जा रही थी। उसके गिलट वाले कड़े को साहु ने सिर्फ बारह आने में गिरो रखा, पाप का फल कहाँ जाता है।

आज बदली फट चुकी थी। गीली जमीन की तरी और प्वाल के धुएँ की तिताई की बिना परवाह किये भीड़ जमती गयी। सब जैसे अपने दिल के दुःख की गाथा एक बार कह लेने में कुछ शान्ति पा जायँगे। मदद कोई क्या करेगा, मानवीय दुर्बलता और अपनी असमर्थता का अन्दाज़ सब को है। शाम से ही घना कुहरा पड़ रहा था। आगे ठाकुर का पूरा बगीचा कुहरे के पेट में चला गया। पीछे के घर धुंधली पोशाक

लपेटे गुमसुम चुप। अलाव के चारों ओर कुहरे का घटाटोप आवरण। प्रकृति जैसे इन मासूम बच्चों पर साँप की केंचुल की बनी कुहरीली झोंप डाल रही है, जैसे ये कभी-कभी बकरी के बच्चों पर अरहर की खाँची डाल देते हैं।

अलाव के पास कुल चार पाँच आदमी बैठे हैं। सब शान्त। कह कर शायद थक गये। देऊ दादा की नन्हीं आखें कुहरे की शलाखें तोड़ कर उड़ जाना चाहती हैं। उनके पास क्या है। ठाकुर का बगीचा। उन दिनों उसकी रखवाली एक बुढ़िया पासिन और उसकी लड़की दुलारी के जिम्मे थी। मिडिल स्कूल से आने वाली सड़क बगीचे के पास से जाती है। ठीक किनारे बड़ा भारी पीपल का पेड़ है। उन दिनों उस पर एक झुण्ड बन्दर रहते। बूढ़ा बन्दर उस परिवार का अगुवा था। पूरा डीलडौल, लाल मुँह। पीपल की हर एक डाल उसकी खुराफात और रगड़ से घिसे हाथों की हुमक से काँप उठती। वह रास्ता प्रायः बन्द-सा था। भूला-भटका कोई राही निकलता। बूढ़े बन्दर का चिपटा मुँह उसकी असमर्थता पर जैसे दाँत चिआर कर हँसता और सहसा केंचे-केंचे की ध्वनि से पूरा बाग गूँजता, दुलारी डण्डा लिये दौड़ती, आस-पास के चरवाहे आते तब तक तो बूढ़ा सिर की गठरी पीपल की डाल पर रख कर फाड़ता-चीथता होता। उस दिन मिडिल स्कूल में लड़कों को दोपहर के बाद ही छुट्टी हो गयी। शायद कोई स्कूल का डिप्टी मर गया था। जाड़े के दिन का दोपहरी सूरज, लड़कों का दल, पूरी उमंग। पीपल के पास आकर पूरा दल ठिठका। बूढ़े बन्दर ने दाँत निकाले, केंचे-केंचे की आवाज़ हुई और एक लड़के का दाना वाला गमछा पकड़ कर बूढ़ा बन्दर किटकिटाया। देऊ दादा ने ललकारा। तभी उसकी मादा कूद कर उनकी गरदन में झूली। झटके से दूर तो गिरी; पर गरदन के पास छिल गया। दादा ने जेब से गुलेल निकाली। देखते ही बूढ़ा भागा, पर ठाँय की गोली लगते ही डालियों में उलझता-उलझता भद् से आ

गिरा। भीड़ इकट्ठी हो गयी।

'पाप का फल सर पर पड़ेगा दुलारो की माँ', पड़ोस की महरी ने हाथ हिला कर कहा, 'आज क्या कोई नयी बात थी। रोज ही ऐसा होता था।' सब ने देऊ को धिक्कारा। साथ के लड़के उसे छोड़ कर भागे। रास्ता चलते राही मन में भले खुश हों, पर इस महापाप की अभ्यर्थना कौन करे! देऊ मुँह लटकाये खड़ा था। उसे बिगड़ने वाला था ही कौन। बूढ़ी माँ बिगड़ेगी तो नहीं, पर मन-ही-मन दुःख बहुत होगा। और अब तक यह खबर क्या गाँव में फैली न होगी? वह स्कूल से चलते-चलते सोच रहा था। जाते ही माँ से लिपट जायगा और आज दोनों फिर एक थाली में ही बैठ कर खायँगे। देवल मनमारे बगीचे की मोड़ पर बरदन की जड़ी से सट कर बैठ गया।

'देऊ दादा' उसने चौंक कर देखा। आगे दुलारी खड़ी थी। बाल खुले थे पीठ तक। तेल नहीं मिलता होगा शायद, या पता नहीं क्यों? वही काली पंजी वाली साड़ी। बड़ी चंचल है, फुनगी का आम कहते-कहते तोड़ लाती है।

'बोलते क्यों नही' दुलारी पास आ चुकी थी, 'मुझ पर भी रंज हो देऊ दादा!'

'मैं तुम पर रंज क्यों!' देऊ की नजर सामने वाले बबूल के पेड़ पर थी। दो कबूतर थे चुपचाप। देऊ की गर्दन से खून टपक रहा था। उसे शायद ख्याल नहीं आया। खून पोंछते हुए दुलारी बोली 'देऊ दादा, आदमी भी क्या टेढ़ा होता है। समझना मुश्किल है। कल तक सब मनाते थे, कहीं बूढ़ा बन्दर मर जाता। आज तुम ने मार दिया। दिल से सब खुशी हैं। दीनाबो महरी के तीन कटोरे गायब हो गये। रोज आन्ही पानी माँगती थी, आज कैसी सीता बनती थी।'

देऊ को यह सब अच्छा लगा। उस के मन में आँसू और क्रोध के मिश्रण से घना कुहरा छा गया था—बड़ा ही घना, दमघोंट। उसे कुछ

फुरसत मालूम हुई। दुलारी उसे अच्छी लगी। सीधी सादी।

'दुलारी, मैं अब चलूँ।' देऊ उठ खड़ा हुआ, 'हम रास्ते पर बैठे हैं। अभी एक मुकदमा पेश है। दूसरे का अपराधी बनना मैं नहीं चाहता।'

दुलारी ने पता नहीं सुना कि नहीं। देऊ को उठते देख बोली, 'कल शाम को बगीचे में आना दादा ! अमरूद की गाँछे फल रही हैं।' देऊ चला गया।

ठण्ढ बढ़ती जा रही थी। कुहरे से घिरी रात बड़ी रहस्यमय लगती। दादा को चुप देख रग्घू बोला, 'जयकरन की याद है दादा।' दादा मुस्कराये।

जयकरन जमींदार का दुलारा प्यादा था। उस के केवल दो काम थे। जमींदार के बड़े लड़के वीरेन्द्र को कुश्ती लड़ाना और शाम को भाँग छान कर गाँव की गलियों में नीची जाति की लड़कियों से आँखें लड़ाना। बड़े घर की औरतें प्रायः उस के मारे बाहर नहीं निकलती। गाँव की अपनी स्थिति ही क्या ? घूरे मियाँ ने जब से यह गाँव निकाल दिया, जैसे शनीचर पड़ गया है। नये जमींदार के लिए गाँव अपना घर था। भैंसे उनकी, सो दूध-दही सब उन का। झोंपड़ी की लौकियाँ उन की। तलैया में दिन भर चारा हिला कर शाम को कहीं बिहारी को दो-तीन पढ़िने मिलते जयकरन पहुँचता, मछलियाँ जमीदार की। किसी में मुखालफत करने की ताकत कहाँ। आज कल जयकरन शाम को गाँव में नही दीखता। एक दिन दादा और रग्घू घूमते हुए ठाकुर के बगीचे की ओर पहुँचे। दादा देख कर ठिठके।

'ये सब अमरूद कच्चे हैं', जयकरन ढीठ होकर बोला, 'पके क्यों छिपाती है दुलारी।'

'आप का ही बाग है सरकार, हम क्यों छिपायें।'

'झूठी' जयकरन उस की ओर आँखें गुड़ेर कर देखने लगा। दुलारी सहम कर पीछे हटी।

जयकरन ने उस की कलाई पकड़ ली। उस की आँखों में झाँकने का नाट्य करते हुए बोला, 'गोरी तिरछी नजर से चलावे जदुवा' दुलारी का शरीर जल उठा। उस ने उस का हाथ नोंच लिया। जयकरन ओफ् कर के पीछे हटा और फिर दौड़ कर हाथ पकड़, उमेठ कर बोला, 'पके अमरूद सब खसम को खिलायेगी।' उस ने ज़ोर से उस के अंगों को रगड़ दिया। दुलारी चिल्लायी। दादा और रग्घू दौड़े। पैरों की आवाज़ सुन कर जयकरन अलग खड़ा हो गया!

'क्या है दुलारी?' रग्घू बोला।

'कुछ नहीं, कुछ नहीं', दुलारी डर कर बोली, 'एक साँप था, अभी इधर चला गया।'

'हुँ', दादा ने धीरे से कहा। दुलारी उन के चेहरे को देख कर काँप उठी उसने गरदन झुका ली।

जयकरन मुस्कराया, 'इस समय आप लोगों को इस बगीचे में आने की जरूरत?'

'जी कुछ नहीं।' दादा ने कहा, 'इधर सांप बहुत हैं, जरा सँभल कर रहिये।' और वे रग्घू का हाथ पकड़ कर बगीचे से बाहर हो गये।

जयकरन ने मुस्कराते हुए दुलारी की ओर देखा। वह काठ-सी खड़ी थी। आँखों से आँसू गिर रहे थे। जयकरन ने बार-बार रोने का कारण पूछा। पर उस ने कुछ कहा नहीं।

अब की नवमी को सदा की भाँति फिर दंगल का आयोजन हुआ। जयकरन फिर उस्ताद बना। लड़ने वालों को छुड़ाना, निर्णय देना यही उसका काम था। कभी-कभी आँख उठा कर वह मन्दिर की ओर देखता। औरतों के भारी समाज में कितनी जोड़ा आँखें उस की परिचित हैं, यही जानना चाहता। गाँव वालों को उस की यह चाल बड़ी बुरी लगती। पर जमींदार के डर से किसी की साँस न निकलती। अन्त में दंगल समाप्त होते-होते जयकरन बोला, 'आज वीरेन्द्र बाबू ने तमाम इलाके के पहल-

वानों से कुश्ती लड़ने के लिए ताल ठोक दी है। जिसे लड़ना हो अखाड़े में आ जाय।'

चारों ओर सन्नाटा छा गया। जयकरन मुस्कराया। दादा को उस की मुस्कराहट सौ-सौ बिच्छू के डङ्क-सी लगी। बोले, 'सुनो पहलवान, लड़के से लोग क्या लड़ें। हिम्मत हो तो तुम खुद लड़ो।'

जयकरन की आँखों से चिनगारी निकली 'बढ़ कर मत बोलो देवल। देशी चिरई मरहठी बोल।'

'इस में बढ़ कर क्या बोलना?' रग्घू बोला, 'आज उस्ताद से ही एक पक्कड़ हो जाय।' लोगों में एक लहर दौड़ी। और उस दिन तालियों की गड़गड़ाहट में देऊ दादा ने जयकरन को जो चित्त पटका, तो उस का दाहिना पंखा ज़ोर पर उखड़ गया। कूद कर रग्घू ने दादा को उठा लिया। उस के दोनों लड़के बड़ी देर तक दादा की जाँघें मलते रहे।

और आज जब पुनः रग्घू ने जयकरन का नाम लिया तो दादा मुस्करा पड़े, 'मुझे उस दिन बड़ा अफसोस हुआ रग्घू!' दादा बोले, 'जयकरन जब अपने पंखे पर कपड़ा लपेटे चलता तो मुझे बड़ा दुःख होता।'

'इस में दुःख की क्या बात दादा! उसने जैसा किया वैसा पाया।'

सर्दी बढ़ने लगी। सब लोग अलाव छोड़ कर अपने घर की ओर चले। समय ग्यारह से पार हो रहा था।

आगे ठाकुर की चौपाल में बड़ा शोर मचा था। जयकरन भीतर लेटा था प्वाल पर, उसे साँप ने काट लिया। विष चढ़ रहा था। और जयकरन उस भयानक जाड़े की रात में भी कपड़ा फेंक-फेंक कर चिल्ला रहा था।

'जाड़े में भी साँप दिखायी पड़ने लगे दादा।' रग्घू हल्की मुस्कराहट से बोला।

दादा चुप थे। 'जो जैसा करेगा वैसा पायेगा,' रग्घू ने धीरे-से कहा।

दादा ने उसकी ओर आँख उठायी। वह सिटपिटा गया। दादा भीतर घुसे। जयकरन ने उन को देखा। दौड़ कर धड़ाम से पैर पर गिर पड़ा।

'दादा मुझे बचाओ....' दादा ने कुछ कहा नहीं। चुपके से बाहर आये। पीछे-पीछे रग्घू और साथ के दो-चार आदमी और थे।

'रग्घू, मैं कुसेरा जा रहा हूँ, धन्नू भगत को बुलाने। जल्दी ही लौटूँगा।'

'आदमी तो बड़ा हठी है दादा। तुम भी क्या फेर में पड़ गये। ईश्वर के आगे किस का चलता है।' रग्घू बोला, 'और जयकरन तो दादा....'

'चुप रहो रग्घू।' दादा तड़पे, 'बोलना नहीं आता तो चुप तो रह सकते हो।' और वे चल पड़े।

'दादा!' रग्घू आगे बढ़ कर बोला, 'तो तुम रहो, मैं ही चला जाता हूँ।'

'नहीं, तुम रुको।'

'तुम्हारी चादर तो हल्की है, न हो मेरा कम्बल ले लो।'

दादा ने कम्बल लिया और चल पड़े। भयानक कड़ाके का जाड़ा। नीचे दूब की चिपचिपी ओस पर जूता फ़िसलता। कुसेरा पूरे पाँच-छः मील से कम न था। ठाकुर का बगीचा पड़ा, कुहरे में लीन। दादा आगे बढ़े। बूढ़े बन्दर वाला पीपल, दादा ने एक नजर देखा और आगे बढ़े। सामने मिडिल स्कूल था, दादा ने देखा और आगे बढ़े।

जयकरन को साँप ने काँट लिया है। दादा सोच रहे थे—साँप-काटा आदमी पता नहीं कब मर जाय। फिर धन्नू भगत आकर करेगा ही क्या? मुर्दे को तो कोई जिला न सकेगा।

दादा ने धोती खूँटी और दौड़े। पैर का जूता फड़फड़ाया, दादा ने उतार कर हाथ में ले लिया। दौड़ने से बदन में गर्मी भर गयी। दादा दौड़े जा रहे थे। एक पेड़ के नीचे रुक कर उन्होंने साँस ली। वह पसीने-पसीने हो गये थे। थक से गये थे। मन ने कुछ पूछा, दादा हड़बड़ाये और चल पड़े। बदन पर कम्बल भारी-सा लगा। दादा ने सोचा क्या करें, सामने के पीपल के नीचे जूता और कम्बल रख दिया सोचा लौटती वक्त ले लेंगे।

पछुआ का तीखा सन्नाटा, सामने की हवा, दादा दौड़ते गये, दौड़ते गये। रात के घने अन्धकार में कुत्ते चौंके। कुहरीली रात को फाड़ते हुए उन की आवाज एक सिरे से दूसरे सिरे तक गूँज उठी।

धन्नू भगत का घर खोजने में कुछ देर न लगी। पहले तो उस ने बहुत टाल-मटोल की। उसका लड़का बिगड़ा, वह दादा को रामनवमी वाले दंगल के दिन से जानता था। किसी तरह धन्नू भगत घर से बाहर निकला। दोनों चल पड़े। पछुआ का सन्नाटा तीर-सा चुभता। दादा का जी होता, वे एक साँस में उड़ते और गाँव पर पहुँच जाते। शीत के डर से नहीं, उन्हें भय था कहीं पहुँचने के पहले जयकरन मर न जाय। उन्होंने बहुत से देवी-देवताओं का नाम लिया, शायद जीवन में पहली बार।

'साँप-काटा आदमी कितनी देर तक जी सकता है भगत?' उन्होंने उत्सुकता से पूछा।

'कोई ठीक नहीं दादा। दो-चार घंटे भी जीता है, बारह-तेरह घंटे भी।'

दादा घबड़ाये, 'जरा बढ़े चलो भगत।' उन्होंने बड़ी कातरता से कहा। उन्हें खूब गरमी मालूम होती; पर बदन कुछ सुस्त था।

कुहरे में सोया गाँव दिखायी पड़ा। दादा मुस्कराये। उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा पश्चिमी आकाश में कुहरे को चीर कर मंगल का लाल तारा हँस रहा है।

दादा अलाव के पास पहुँचे। सर में चक्कर आया और वे बैठ गये। जोर से हूल आयी और उन्होंने कै की। धन्नू उनका माथा थाम कर बैठ गया। 'तुम्हें शीत हो गयी दादा! चलो घर पहुँचा दूं।' धन्नू बोला। दादा को कुछ ध्यान हुआ, 'तुम यहाँ बैठे हो भगत।' वे उठ खड़े हुए। 'आओ चलो ठाकुर की चौपाल में।'

'ठाकुर की चौपाल में?'

'हाँ, हाँ, वहीं तो जयकरन को साँप ने काटा है।' दादा ने उसका हाथ पकड़ा और खींचा। पैर लड़खड़ाये, पर सँभल गये।

'जयकरन को ?' उठ कर धन्नू बोला।

'हाँ, हाँ, देर न करो भगत।'

ठाकुर की चौपाल में भीड़ नहीं थी।

'भगत आ गये जयकरन, अब तुम अच्छे हो जाओगे।' दादा ने कहा और वे चकरा कर गिर पड़े। उनका बदन ऐंठ रहा था, ठीक प्वाल की राख की तरह·····।

मंजिल और मौत

उसको गाँव वाले बौड़म कहते थे। नदी के किनारे, कुएँ के पास, स्कूल के सामने, या चौराहों पर, यदि लड़कों की भीड़ हो, तालियाँ बजती हों, अधेड़ हँसते हों, औरतें मुँह पर आँचल रख कर मुस्कराती हों, तो समझ लीजिए, वहाँ कहीं बौड़म ज़रूर है। आप ज्यों-ज्यों इस भीड़ के नज़दीक पहुँचेंगे, तालियों की उठती-गिरती आवाज़ के साथ लड़कों के गाने के स्वर तेज़ होते जाएँगे:

रात करे झन्न-झन्न जीरा करे शोर
बौड़म की दुलहिन को ले गये चोर

वाद्य-गीत का समा बँध जायगा। तालियाँ तेज़ होने लगेंगी, ठहाके लगेंगे, बौड़म के मन को खींचने की कोशिशें होंगी; पर बौड़म पर जैसे इसका कोई असर नहीं। पुराने कुएँ की टूटी सीढ़ियों के सहारे पीठ को अड़ा कर, अपने दोनों घुटनों के बीच सिर को गाड़ कर बौड़म निश्चेष्ट बैठा रहेगा, जैसे ज़िन्दगी के असह्य भार को क्षण भर के लिए उतार कर कोई थका-हारा बटोही विश्राम करता हो। धूल से सफ़ेद, बिवाइयों से चिथड़े पैर, लकड़ी की तरह सूखी काली-काली टाँगें, गंदी धोती, मांस-

हीन निर्जीव-सा शरीर, कंधे से लटकती एक चादर, ये सभी उस मूर्ति को आकार देते हैं, जिसे किसी शिल्पी ने निराशा को मूर्तिमान् करने के लिए गढ़ा था। अपने तमाम साधनों का उपयोग करके लड़कों की विनोद-प्रिय मंडली थक जाएगी; पर धूप और भूख से सन्तप्त, अधमरे साँप की तरह बौड़म का सिर घुटने की कुण्डली से बाहर न निकलेगा। तब किसी अधेड़ के इशारे से कोई शरारती लौंडा उसके कंधे से चादर खींच कर भाग निकलेगा। बौड़म नींद से चौंक कर गर्दन उठाएगा। उसकी आँखे लाल होंगी, जिनमें क्रोध है, दीनता है या महज़ कच्ची नींद के टूटने की खुमारी, यह जान सकना मुश्किल होगा। वह धीरे-से उठेगा, बेवकूफ़ की तरह इधर-उधर देखेगा, फिर चुपके जाकर किसी लड़के के सामने खड़ा हो जाएगा। लड़का उसकी चीज़ को छिपाने की कोशिश करेगा, पीठ के पीछे, धोती में, इधर-उधर हाथ घुमायेगा और जब बौड़म उसका हाथ पकड़ लेगा, तो खाली हाथ आगे करके हँस पड़ेगा।

'कहाँ गया, कहाँ गया ?' बौड़म उस लड़के को छोड़ कर दूसरे की ओर बढ़ेगा। 'वहाँ है, भाई !' कोई अधेड़ आगे बढ़ कर कहेगा, 'तुम तो अन्धे की नाईं खोजते हो। चीज़ कहाँ, ढूढ़ते हो कहाँ ! अरे, वह देखो, सामने दीनाबो कमारिन ने छिपा रखा है।'

बौड़म बेचारा पशोपेश में पड़ जाएगा। वह किसी औरत से छीना-झपटी कैसे कर सकता है ? वह चुपके उसके पास जा कर चिरौरी-मिनती करने लगेगा। कुएँ पर पानी खींचतीं औरतें आपस में किलोल करेंगी। दीनाबो से देने के लिए आग्रह करेंगीं उनकी निठुराई पर तरस खाएँगी, दीनाबो के दोनों गाल लाल हो उठेंगे। लोग-बाग चिल्लाएँगे, देखना बौड़म, बिना लिए टलना नहीं ! ख्याल से रहना, नहीं धत्ता बता कर निकल जाएगी !' बौड़म कुछ कहेगा नहीं; पर उसके शरीर कीं विभिन्न मुद्राएँ जैसे दीनाबो कमारिन से आग्रह करेंगी, 'अरे दे न दो ! वे हँसते हैं, मर्द हैं, मज़बूत हैं। तुम तो औरत हो, ग़रीब हो, मेरी तरह

कमज़ोर हो, तुम मुझे परेशान क्यों करती हो ?' करुणा से बोझिल मुँह की झाँई को देख कर औरत पिघल जाएगी, 'मेरे पास नहीं है, भैया ! झूठे लोग तुम्हें परेशान करते हैं।' बौड़म इस तरह की निश्छल भाषा से हताश हो जाएगा। हार मान कर बैठ जाएगा। तब जैसे खेल से खुद थक कर, उसके लंबेपन की नीरसता से ऊब कर, लोग आपस में सलाह करेंगे और बौड़म की चीज़ उसे वापिस दे देंगे।

इसी तरह रोज़ होता है। बौड़म गाँव वालों के लिए बिना पैसे का खेल है। पर कोई शायद ही यह कभी सोचता है कि यह बौड़म जीता कैसे है। इतना थक कर, भूखे रह कर, अपमान और तिरस्कार पी कर यह मर क्यों नहीं जाता ? लोगों को हँसा कर, खुद रो-गा कर वह कभी आराम भी करता है या नहीं, वह खाता क्या है, सोता कहाँ है, यह कोई नहीं जानता। शरीर में केवल हड्डियाँ बचीं हैं। सर के बाल अपने से बढ़ते हैं सीधे, बेतरतीब, अकृत्रिम। महीने के अन्त में यदि नाई ने स्वयं कृपा की, तो मुण्डन-संस्कार हो गया; नहीं, तो वैसे ही बढ़ते जाएंगे। सिर, मूँछ, दाढ़ी के इन कड़े-कड़े, धूसरित वालों के बीच उसकी आँखें जलती हैं, थकावट से, अपने प्रति उदासीनता से, या न जाने कितने तरह के विचारों के मिश्रण से।

गंगा के किनारे एक टीला है। पास में हैंसा, झरबेरी के झाड़ हैं, जो आकाश बँवर की लताओं, और तरह-तरह के जंगली पौधों से घिर कर कुंज की तरह बन गये हैं। इस कुंज पर आपको जगह-जगह कपड़े के चिथड़े, काग़ज के टुकड़े, पक्षियों की पाँखें, सन के गुच्छे, सूखे फूल आदि लटकते मिलेंगे। यह कुंज बौड़म का देव-स्थान है। जब वह यहां आएगा, इस पर कोई-न-कोई मनमाना उपहार चढ़ाएगा। और फिर अपनी इस चिरकुटों वाली देवी के सामने घुटने टेक कर कहेगा, 'देवी माँ, मेरे मिट्ठू पर कृपा करो। मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूं। एक बार फिर मेरे घर में खुशी आ जाने दो। मेरे मिट्ठू की शादी करा दो !'

बड़ी देर तक देवी की प्रार्थना करने के बाद बौड़म उठेगा, इधर-उधर देखेगा, पास में मिट्ठू को न पा कर वह चिल्लाएगा, 'मिट्ठू, मिट्ठू !' फिर वत्सल पिता की तरह परेशान हो कर बुदबुदाएगा, 'नदी का किनारा है। बड़ा शरारती है। हे भगवान् कुछ हो न जाए !'

तब तक उसकी आवाज़ से घबड़ाया मिट्ठू दौड़ेगा, झाड़-झंखाड़ लाँघते-फाँदते आ कर, उसके पास खड़ा हो जाएगा।

'कहाँ गया था ?' बौड़म उसके गले की चमोटी पकड़ लेगा। छोटी-छोटी घंटियाँ बज उठेंगी। बौड़म कहेगा, 'क्यों शादी करोगे न ? खूब सुन्दर दुलहिन लाऊँगा। रुन-झुन से घर भर जाएगा।'

कुत्ता सब कुछ समझता हुआ-सा उसके मुँह की ओर देखता रहेगा। फिर दोनों चुपचाप चल पड़ेंगे।

मिट्ठू ताजिया कुत्ता है। यह कुत्ता बौड़म के साथ कोई एक महीने से दिखाई पड़ रहा है। इन्सान और जानवर की दोस्ती विरल नहीं है; पर ऐसी दोस्ती शायद ही किसी ने देखी हो। जब देखो, तब मिट्ठू बौड़म के साथ। उठना-बैठना, खाना-पीना, यहाँ तक कि सोना भी दोनों का एक साथ होता है। बौड़म खुद जाड़ा खा जाए, तो कोई हर्ज़ नहीं; पर मिट्ठू के लिए प्याल भरा हुआ गद्दा तो चाहिए ही। ज़माना था, जब बौड़म पानी से डरता था। उसको परेशान करने के लिए लड़के उसके पीछे-पीछे लोटे में पानी लिए दौड़ते थे। अब बौड़म खुद नदी में घंटों कूदता रहता है। मिट्ठू को रस्सी से बाँधकर वह रोज नदी ले जाता है। कुत्ते को जबरदस्ती पानी में ढकेल देता है। मल-मल कर धोता है। कुत्ता कूँ-कूँ करता है, उसकी देह पर चढ़ जाता है; पर बौड़म बिना ठीक से नहलाए उसे जाने नहीं देता।

शाम को बौड़म और मिट्ठू नदी के किनारे-किनारे घूमते हुए दूर तक निकल जाएँगे। अपने दोनों अगले पैरों पर जोर देता हुआ मिट्ठू अकड़ कर चलेगा। किसी झाड़ी में जरा-सी हरकत हुई नहीं कि मिट्ठू के

कान चौकन्ने हो जाएँगे। 'जाने दो !' बौड़म पुकारेगा; पर मिट्ठू छलांग मार कर बनबिलाव, नेवले या खरगोश के पीछे हो लेगा। बौड़म उसके पीछे-पीछे इस झाड़ी से उस झाड़ी तक दौड़ता रहेगा।

गाँव के लड़के इस दोस्ती से बहुत परेशान हैं। अब उनको बिना पैसे का तमाशा देखने को नहीं मिलता। उनकी दाल ही नहीं गलती। बहुत कोशिश के साथ कोई लड़का ऊँघते हुए बौड़म के पास जाने का साहस भी करता है, तो मिट्ठू अपनी पूँछ पटक कर गुर्रा उठता है; लड़के के होश उड़ जाते हैं, उलटे पाँवों लौटना पड़ता है। लड़के मिट्ठू से बहुत घृणा करते हैं। उनकी कुत्ता ही इस तमाम बुराई की जड़ मालूम होता है। पर बेचारे करें क्या !

बौड़म की चुप्पी से गाँव उदास होने लगा। लड़के परेशान थे ही कुछ प्रौढ़ भी परेशान मालूम होने लगे। बौड़म के उद्धार के लिए तरह-तरह के उपाय सोचे गये; पर कोई कारगर नहीं मालूम हुआ।

शाम का समय था। पूरा गाँव खामोशी के पर्दे में लिपटा पड़ा था कि किसी के रोने की आवाज से लोग चौंक पड़े। पहुँच कर लोगों ने देखा कि बौड़म औरतों की तरह फुक्का मार कर रो रहा है। उसके सामने कुत्ते की लाश पड़ी हुई है। गाँव वालों को और कुछ नहीं सूझा तो उन्होंने जहर देकर कुत्ते को ही छीन लिया। बौडम का हृदय चीत्कार कर उठा। अपनी असहायता पर, अपने अकेलेपन पर आज तक उसने कुछ नहीं सोचा; पर आज तो मिट्ठू की मौत ने उसे झकझोर दिया। संसार सुनसान हो गया। रिक्तता मुँह बाये खडी हो गयी। गाँव वालों ने इस अपराध को सिर झुका कर स्वीकार किया; पर उस लम्बी-चौड़ी भीड़ में शायद ही कोई ऐसा आशाजीवी रहा हो, जो यह विश्वास करता हो कि बौड़म एक दिन भी इस जर्जर काया को सँभाल सकेगा। उसकी आँखें पथरा गयी थीं। चमक आँखों के कोटर को खाली छोड कर उड़ गयी थी।

पूरे आठ दिन तक बौड़म घर से बाहर नहीं निकला। कृश, दीन, भूख से सन्तप्त, इन असहाय आदमी के मरने का निश्चय सबने मन में बिठा लिया। इस आतंक से गाँव का बच्चा-बच्चा काँप गया। सहसा एक दिन बौड़म अपनी गुफ़ा से बाहर निकला। वृद्ध सिंह की तरह फुफकारता हुआ वह नदी की ओर चला गया। गंगा में उसने खूब गोते लगाये—जैसे हृदय में जमे दुःख को बाहर बहा देना चाहता हो। कपड़े पहन कर जब वह चला, तो दोपहर का सूरज ढल चुका था। भूख की जलन से उसकी ठठरियाँ तक राख हुई जाती थीं। पर वह करता ही क्या, किसी के दरवाजे पर जाकर हाथ फैलाना उसने सीखा नहीं। वह चुपचाप टीले की ओर बढ़ता गया, सामने चिरकुटों की देवी पीली-पीली लतरों में मुस्करा रही थी। बौड़म ने घुटने टेके। उसकी आँखें छलछला आयी, 'माँ ! तू इतनी निठुर है ! मिट्ठू ने तेरा क्या बिगाड़ा था ? क्या सचमुच मेरे घर में कभी खुशी बर्दाश्त नहीं करेगी ?' सहसा उसकी उँगलिया भिंची, वह उठा, 'अच्छा, मैं भी देखूँगा, तू कैसे मेरे घर में खुशी नहीं आने देती !'

बौड़म चल पड़ा। ये ही शब्द आज से दो साल पहले भी उसने अपनी देवी के सामने कहे थे, जब गाँव पालों के इशारे से उसकी भावी पत्नी ठाकुर के नौकर की रखेल बनने चली गयी और उसने उसे पागल कह कर ठुकरा दिया। लड़की स्वस्थ और सुन्दर थी। लोगों ने बताया कि यह सब-कुछ ठाकुर के इशारे से हुआ है। अपनी सारी रंगीन इच्छाओं को समेट कर बौड़म ने अपनी माँ जीरा से कहा था, 'तू रोती है ? हुँ ! एक-न-एक दिन तेरी बहू आएगी ही, घर पायल की रुन-झुन से गूंज उठेगा। तू बड़ी खुश होगी, माँ !'

वृद्धा जीरा ने कुछ कहा नहीं, केवल बौड़म की उजड़ी आँखों में वह झाँकती रह गयी थी।

बौड़म आज दुःखी था। उसकी वृद्धा माँ बहू के मुंह की बाट

जोहती-जोहती ठंडी हो गयी और बहू न आयी। माँ की मृत्यु के बाद बवंडर में उड़ते तिनके को एक आधार मिला था। बौड़म अपने तमाम सुख-दुख को आदमी के अभाव में मूक जानवर के स्नेह में बहा रहा था; पर आज अदृश्य के क्रूर पंजे ने वह भी छीन लिया। और तब सब का सोचना ठीक ही था कि बौड़म को यह दुःख खा जाएगा। विपत्तियों के घुन से जर्जर काया ढह जाएगी। पर पता नहीं, बौड़म के मन में कौन-सी इच्छा थी, जो उसके निश्चेष्ट शरीर में चेतना का संचार करती थी! किस भावना के सूत की ताक़त थीं, जो उसे उठ कर मंज़िल की ओर चल पड़ने के लिए प्रेरित करती रहती थी। और सचमुच ही बौड़म ने दुखों की गठरी को सिर पर रख लिया और फिर वह चल पड़ा, फिर गाँव के चौराहे, स्कूल का मैदान, कुएँ की जगत, नदी का किनारा, लड़कों की तालियों कीं गड़गड़ाहट से गूँज उठा। मनचले युवकों की भीड़ जमनें लगी। पानी ले जाने वालियों पर फबतियाँ कसी जाने लगीं। मुँह पर आँचल रख कर औरतें मुस्कराने लगीं।

बौड़म थक कर चूर हो गया था। उसके पैर अनायास उसे टीले की ओर लिए जा रहे थे। उसने गंगा से उठती सर्द हवा के एक झोंके को हाथों में रोक लिया और बड़ी देर तक झूलता रहा। टीले पर बैठ कर उसने जलती आँखों को ढँक लिया, लहरों का संगीत किनारे पर गूँज रहा था।

'दादा!' किसी ने उसकी अँगुली पकड़ कर खींची।

'क्या है भाई?' बौड़म ने आँखें खोल कर देखा, एक ग्यारह-बारह साल का काला-सा लड़का खड़ा है।

'दादा!' लड़के ने विकल कंठ से कहा, 'मेरी माँ बहुत बीमार है।' लड़का कुछ और कहना चाहता था; पर बौड़म पुनः उसी तरह आँखें बंद किये ऊँघने लगा था।

'दादा!' लड़के ने उसे पकड़ कर झकझोर दिया, 'मेरी माँ बहुत बीमार है, दादा! उसे एक बार देख लो, मेरा कोई नहीं है दादा!'

'तेरी माँ बीमार है ? अच्छा भैया, चल !' बौड़म ने लड़के का हाथ पकड़ लिया। लड़का सहानुभूति के स्पर्श से विह्वल हो गया। उसकी आँखें बरसने लगीं।

'छि, रोते नहीं, भैया !' बौड़म ने कहा, 'मर्द होकर रोते हो ! तुम्हारी माँ अच्छी हो जाएगी ! रोने की क्या बात है, आओ चलो !' उसने पुचकार कर लड़के को सँभाला।

गाँव के पश्चिमी छोर पर नदी की ओर मुँह किए एक झोंपडी थी। इसमें यह लड़का और इसकी माँ दोनों रहते थे। माँ विधवा थी और विधवापन में ही उसे यह एक लड़का मिला, सो जात ने उसे अपने से अलग कर दिया। उनको छूने में पाप था, देखने में धर्म नष्ट होता था। झोंपड़ी में पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। रात का पहला चरण बादल की तरह काले पंजे से दुनिया को रौंदने लगा। हवा थोड़ी तेज हो गयी। लड़के ने दिया जलाया और धुँधली रोशनी में बौड़म ने देखा कि एक निश्चेष्ट कंकाल ढीली चारपाई में झूल रहा है। उसकी आँखों के सामने उसकी माँ नाच उठी। बहू देखने की दुर्दम लालसा ने बूढ़ी के शरीर से उसकी जीवन-शक्ति छीन ली थी, एक दिन मामूली हवा के झोंके से भहरा कर गिर पड़ी।

'दादा !' लड़का चीख उठा, 'माँ बोलती नहीं है, दादा ! मेरी माँ....' और वह अपनी माँ के शरीर पर लुढ़क कर रोने लगा। बौड़म ने उसे मुश्किल से अलग किया। लाश को जमीन पर उतार कर सुला दिया। वह चीत्कार करते लड़के को समझाता; पर खुद रोने लगता। बड़ी देर तक यही चलता रहा। फिर दोनों ने मिल कर लाश को उठाया। रात आधी के पार थी, सतहवा ढल गया था। नदी का किनारा झन्-झन् कर रहा था। बड़ी कठिनाई से जल-प्रवाह हुआ।

बौड़म ने लड़के का हाथ पकड़ा और उसे लेकर टीले के पास जाकर बैठ गया।

'तुम्हारा नाम क्या है, भैया ?' लड़के को पास खींच कर बौड़म ने पूछा।

'रामू।'

'नहीं नहीं तू रामू नहीं मिट्ठू है' बौड़म ने एक झटके से खींच कर उसे छाती से चिपका लिया 'मिल गया, मिल गया, देवी ने मेरा मिट्ठू वापस कर दिया !' उसकी आंखों से अविरल आँसू गिरने लगे। लड़का अवाक् उसकी छाती से चिपका उसके चेहरे को देखता रहा।

यद्यपि बौड़म का शरीर निरन्तर ढलता गया; पर उसके अन्दर जैसे नयी चेतना आ गयी थी। कभी घर की मरम्मत करता, कभी आँगन को हमवार बनाता। मिट्ठू पूछता, 'दादा इतनी मेहनत क्यों करते हो ?'

'पागल है !' बौड़म कहता, 'बहू क्या खराब जगह में रहेगी ?'

उसके द्वार पर आम के तीन-चार पेड़ थे। रखवाली के अभाव में उजड़ गये थे। बौड़म ने उनके थाले बनाये, जड़ों पर मिट्टी डाली। नयी उमंग से आमों में कल्ले फूटे।

जात के चौधरी ने बौड़म पर डाँट चढ़ाई। उसे कुजात को घर में रखने के कारण जातिच्युत करने की धमकी दी। बौड़म मुस्करा दिया, जैसे वह इसका कुछ मतलब नहीं समझता। पागल और बेवकूफ़ की क्या जात ! चौधरी को यह मुस्कान अखर जाती, वह चुप चला जाता।

गाँव के लड़के इस नयी दोस्ती से फिर परेशान हुए। पर उनकी एक न चलती। आजकल तो बौड़म को इतनी फ़ुर्सत कहाँ कि वह आवारा की तरह गली-गली घूमा करे, दूसरे, जब वह निकलता भी, तो मिट्ठू परछाईं की तरह उसके साथ होता। थक कर बौड़म जब कभी बैठ जाता, मिट्ठू चौकन्ना होकर उसकी रखवाली करता। किसी को कोई चीज़ छीनने की हिम्मत न होती, बौड़म के सचेत होने पर मिट्ठू लड़कों की शरारत का जिक्र करता। बौड़म उसे समझाता, 'किसी की कोई चीज़ मत लेना ! कोई कुछ दे, मत खाना, कोई कुछ कहे, सुन लेना

झगड़ा मत करना ! कुछ करना, मुझसे पूछ कर करना !'

मिट्ठू अपनी गर्दन हिला कर स्वीकृति देता। दोनों हाथ में हाथ डाले एक ओर चल देते।

गाँव के कुछ शुभचिन्तक बौड़म की इस दशा पर ईर्ष्या करते। उसकी खुशी से परेशान हो जाते। पर कोई कर ही क्या सकता था ?

कोई बड़ा-बूढ़ा पूछता, 'क्यों बौड़म ! यह कमीने-सी मेहनत क्यों करते हो ? यह कमाई तुम्हारे किस काम आएगी। मर जाओगे, दौलत पड़ी की पड़ी रह जाएगी।'

बौड़म कहता, 'मरना तो सब को है, दादा ! दो-एक आदमी रोने वाले छोड़ कर मरना ज्यादे अच्छा रहता है।'

सब चुप हो जाते, आश्चर्य से बौड़म की ओर देखते और चले जाते।

उसी साल बौड़म ने बहुत दौड-धूप करके मिट्ठू की शादी ठीक कर दी। उसका शरीर निरन्तर क्षीण हो रहा था; पर मारे खुशी के उसके पैर धरती पर नहीं पड़ते थे। बड़ी मुश्किल से एक लड़की वाला तैयार हुआ, सो भी इस शर्त पर कि बौड़म अपना घर-द्वार, खेत-बाग़, सब मिट्ठू के नाम रजिस्ट्री कर दे। बौड़म ने बड़ी खुशी से शर्त मान ली।

शादी का दिन आया। बड़ी धूम-धाम हुई। बौड़म ने मुद्दत बाद ठीक से बाल कटवाये, नये कपड़ पहने। उसका शरीर पहले से ज्यादा पीला पड़ गया था; पर उत्साह तो बढ़ता ही जा रहा था। बाजे-गाजे के साथ शादी हुई। बौड़म के घर में दुलहिन आयी और सचमुच उसका आँगन बिछिया की आवाज़ से गूँज उठा। खुशी का महासागर लहरने लगा। उसने नियति के क्रूर पंजे को मरोड़ कर घर में खुशी ला दी।

चारों तरफ़ उल्लास था, आनन्द था, और इस अपार खुशी की रात के सबेरे लोगों ने देखा कि आनन्द के महासागर में तैरते हुए बौड़म का शरीर ठंढा हो गया। मरा-सा तो वह था ही, पर इच्छा का जोर उसे खींचता गया, मंजिल पर आकर राही मौन हो गया।

गाँव में एक स्तब्धता छा गयी। लड़के, बूढ़े, अधेड़ जिसने भी बौड़म की मौत की बात सुनी, सन्न रह गया; जैसे सबका कोई नज़दीक का उठ गया। अब भी लड़के कभी-कभी आदत-वश कहते हैं :

'रात करे झन्न-झन्न जीरा करे शोर...'

तब तक पास बैठा कोई बूढ़ा उनके होठों पर हाथ रख देता है, ऐसा नहीं कहते, बेटा !'

मास्टर सुखलाल

दोपहर को जब खाने के लिए घर पहुँचा तो देखा कि मुन्नी आँगन में अपनी माँ से जल्दी खाना पाने के लिए मचल रही है और वे किसी काम में फंसी उसकी नकली रुलाई को मधुर सङ्गीत समझ निरुद्वेग रूप से श्रवण कर रही हैं। मैंने आँगन में पैर रखते ही मुन्नी से इस 'असामयिक सङ्गीत' का कारण पूछा तो बोली, 'आज बहिरू मास्टर की बिदाई है, तमाशा होगा' और फिर उसने अपने होठों को ठीक-ठाक कर के यह भी कहा कि पड़ोस के तमाम लड़के न जाने कब के मदरसे पहुँच गये होंगे। मैं मुन्नी के इस अभियोग पर, जो उसने दूसरे एक दर्जन भले माँ-बापों की नजीर के साथ पेश किया था, विचार ही कर रहा था कि बगल में अच्छे लड़के की तरह शान्त बैठा किशोर बोला, 'ना भैया, मुन्नी झूठ बोलती है, तमाशा-वमाशा कुछ न होगा। बहिरू मास्टर की बिदाई थोड़े हो रही है, तबादला हो रहा है।' और फिर उसने मुन्नी की ओर गर्वस्फीत सिर घुमा कर देखा और उसके होठों पर हल्की कुटिल हँसी खिच गयी जिसमें लिखा था कि मुन्नी कितनी नादान है बेचारी जो यह भी नहीं जानती कि बहिरू मास्टर की बिदाई नहीं, बदली हो रही है।

मुन्नी और किशोर दोनों खाना-वाना खा कर मदरसे चले गये। मैं

बड़ी देर तक किशोर के कथन पर विचार करता रहा, किंतु मुझे यह कहने में सङ्कोच नहीं कि इस मामले में मेरी बुद्धि मुन्नी की तरह ही अपनी असमर्थता को छिपाती किशोर की कुटिल हंसी की ओर दयनीय भाव से देखती रही। 'बहिरू मास्टर की बिदाई नहीं, बदली हो रही है' के आर्य सत्य के महोदधि के सम्मुख अपनी बुद्धि को अबला-सी खड़ी देख मैं हताश हो गया, तभी मन के अछूते कोने में एक छायामूर्ति दिखाई पड़ी, अंधेरे कोने में, धूमिल रोशनी के प्रकाश में, मकड़ी के छत्ते की तरह सफेद गांधी टोपी, मुंहपर जाले की तरह फैली झुर्रियाँ और बीच में दो हिलती-डुलती आँखें जैसे दो मकड़ियाँ किसी मक्खी को पंजे में ऐंठ कर धीर-गम्भीर भाव से प्यार कर रही हों। निरन्तर गर्द में रंगी दीवाल की तरह गर्दखोर अंगरखा और घुटने को पक्की बाउण्डरी मानकर शान्त सोयी हुई मैली धोती: यही हुलिया है मास्टर सुखलाल की। लगता है जैसे इस वेश भूषा से मास्टर सुखलाल का इस्तमरारी सम्बन्ध है, इसे कर्ण के कवच की तरह वे सोते-जागते, उठते-बैठते निरन्तर धारण किये रहते।

पहले-पहल जब मैं मास्टर सुखलाल से मिला तो वे दर्जा तीन के लड़कों को भूगोल पढ़ा रहे थे। एक सफेद पोश इन्सान को देखने से जो भय मिश्रित आदर का भाव गंवई-गाँव में दिखाई पड़ता है वैसा ही कुछ मास्टर सुखलालकी झुर्रियों में उलझा दिखाई पड़ा। उन्होंने अपनी कुर्सी मेरी ओर बढ़ा दी और एक लड़के को चारपाई लाने के लिए मदरसे के भीतर भेजा। बहुत बुद्धि लगाने पर भी लड़का जब कमरे के भीतर से दो प्रलम्ब बाहुवों वाले पाये को ही ला सका तो मास्टर सुखलाल के चेहरे पर कपूरी गुस्सा हंसी बन कर नाच उठा और उन्होंने मुझे सङ्कोच से कुर्सी पर इधर-उधर होते देख लड़कों के टाट पर आसन जमाया और बात को बदलने के लिए पूछा, 'आपका बी० ए० तो हो गया?'

'जी एम० ए० भी।'

'और अब तो एफ० ए० ही बाकी होगा' उन्होंने अपनी जानकारी की स्वीकृति के लिए मेरे चेहरे पर आँखें गड़ा दी तो मुझे न हंसते बना, न रोते। मैं उनकी ओर ताकता रहा जिसे वे बहुत सह न सके और मुस्करा कर लड़कों की ओर देखने लगे जिनके चेहरे पर अपने योग्य मास्टर की विद्वत्ता की छाप स्पष्ट अंकित थी।

सामने कच्ची दीवाल पर अरहर की खूँटी में भारत का मानचित्र टँगा था जिसमें सारा हिन्दुस्तान हरे रंग में रंगा था और पाकिस्तान लाल में। रंगों की इस विडम्बना पर जब मैं हँसी न रोक सका तो मास्टर सुखलाल पेशोपेश में पड़े और पूछ बैठे, कहिये क्या देख रहे हैं, पूछिये कुछ, लड़कों का लाभ होगा।'

मैं चट बोल उठा, 'गोदावरी।'

सुखखाल ने भाष्य किया, 'मोती, उठो तो बेटा, बताओ आपको गोदावरी नदी।'

मोती बेटा उठा तो जैसे उसे सामने दीवाल पर टँगा मानचित्र दिखाई ही न पड़ता हो, वह कभी बायें देखता कभी दायें, पर उसकी आँखें सुखलाल के चेहरे के मक्खी-जाल में ही फँसी थीं तभी आतिशी पटाखे की तरह चटाक हुआ और मास्टर बोले, 'वे सामने के नकशे में गोदावरी नदी दिखा, मेरे मुँह पर क्या ताकता है।' मोती बेटा ने तसल्ली के लिए कहा, 'मास्टर साहब गोदावरी नदी।'

'हाँ हाँ भाई, दिखा तो जरा।' अपने परिश्रम की सफलता को हाथ-भर पर खड़ी मुस्कराते देख सुखलाल उछल पड़े, मोती बेचारा टाट से उतर कर नक्शे के पास पहुँचा तो उसके हाथ जैसे सामने साँप देखकर सिकुड़ गये, आँखों के आगे नक्शे का रंग इन्द्रधनुष बनाने लगा।

मास्टर सुखलाल उठ कर आये और लड़के की पीठ के पीछे खड़े हो गये जैसे भरी सभा में बेचारा नन्हा लड़का डर रहा हो, उनकी छत्रच्छाया मिलने पर जरूर कुछ कमाल कर दिखायेगा। पर अपने सिर पर सुखलाल

के वरदहस्त को देख लड़के के देवता कूच कर गये, नक्शे पर रूल भी ठीक नहीं बैठा और तभी कड़क कर सुखलाल बोले, 'कहाँ है वे गोदावरी ?'

'जी हिन्दुस्तान में' लड़के ने फट से कह दिया।

टाट के लड़के खिलखिलाये, मास्टर सुखलाल ने चेहरे पर हंसी कुनमुनाई और उन्होंने लड़के की पीठ पर एक घूसा जमाते हुए कहा, 'नहीं बे यह है तेरी पीठ पर।'

उस दिन के इस पहले 'इन्टरव्यू' ने मुझे मास्टर सुखलाल का जिज्ञासु भक्त बना दिया। मुझे लगा जैसे मास्टर सुखलाल स्वयं एक बहुत बड़ी जानकारी की चीज हैं। इन्हें पितामह ब्रह्मा ने अपने हाथों गढ़ कर इस देवभूमि में कपिल-कणाद की औलादों के लिए ज्ञान-दान के निमित्त भेजा है। और तब से मैं मास्टर सुखलाल की नित्य लीलाओं का एक पार्षद-सा बन गया।

इतनी बड़ी दुनिया में भी यदि आप खोजें तो रोज-रोज सनसनी-खेज बातें नहीं मिल सकतीं चाहे आप कितने ही बड़े 'न्यूज-हण्टर' क्यों न हों, पर यदि आपको विश्वास आ सके तो सच मानिये मेरे पास सुखलाल की जिन्दगी की घटनाओं का इतना बड़ा जखीरा है कि उसमें जिस किसी को भी सामने रख दूं, कोई सम्पादक उसे अखबार के पहले पृष्ठ पर छाप कर पीली पत्रकारिता (Yellow Journalism) का मास्टर बन सकताहै।

सुखलाल के आ जाने से गाँव के नवयुवकों में एक नया जोश फैल गया। जहाँ भी चार-पाँच आदमी इकट्ठे हो जाते मास्टर सुखलाल उन्हें अपने 'आर्ट' की बात अवश्य सुनाते। आर्ट शब्द उन्होंने किसी नौटंकी वाले से सुनकर सीख लिया था। कहते कि साहब दाना-पानी का फेर है कि मैं ऐसे सुस्त गाँव में आ गया। डिप्टी से झगड़ा क्या किया साले ने नर्क में भेज दिया। यह भी कोई जगह है; जहाँ न नाच न गान, न सर्कस न ड्रामा। ढेले फोड़ कर अन्न पैदा किया, तकदीर से महंगी आ

गयी, केसारी बेचकर लोगों ने चार ठो रुपल्ली जोड़ ली। बन गये धन्ना सेठ। अरे भाई धनी तो वो कि जिसके पैसे से 'आर्ट' में उन्नति हो। और फिर वे पिछले जमाने के राजा विक्रमादित्य और भोज का हवाला देते हुए कहते कि एक समय था कि 'आर्ट' के लिए राजा अपना सर्वस्व लुटा देते थे और एक जमाना यह है कि 'आर्टिस्ट' की कोई बात नहीं पूछता। मास्टर सुखलाल की इन तमाम बातों को पहले तो युवकों की मण्डली खालिस प्रलाप ही मानती रही और जब एकाएक एक दिन वे मेरे पास आकर बोले कि आज शाम को स्कूल पर एक सभा होगी जिसमें मुझे जरूर शामिल होना चाहिये तो मैं एकदम घबड़ा गया, इसलिए कि मैंने इसे प्रलाप नहीं सन्निपात का 'डेलिरियम' समझा, पर शाम को सभा में जब मास्टर सुखलाल ने 'आर्ट' की तरक्की पर एक खासा बढ़िया भाषण किया और ड्रामा के लिए उन्होंने पचास रुपये भी मेज पर रख दिये, साथ ही दाताओं के नामों की लंबी लिस्ट बाँच कर उन्हें धन्यवाद भी दिया तो नवयुवकों के आनन्द का ठिकाना न रहा और मास्टर सुखलाल बिना बहस के नवयुवकों के नेता मान लिये गये। उस दिन सभा में यह भी तय हुआ कि एक महीना बाद 'प्रह्लाद' नाटक खेला जायगा जिसके लिए रंगीन पर्दे और वेश-भूषा शहर से भाड़े पर मंगाये जायँगे। यह कहना शायद आवश्यक नहीं कि मास्टर सुखलाल ने पार्ट लिखने से पात्र ढूँढ़ने तक और ढोलक-झाल इकट्ठा करने से प्रौढ़ मूंछ वाले स्त्री पात्रों को साड़ी पहनाने तक का कार्य जिस चतुरता से किया उसे यदि किसी चलचित्र निर्देशक ने देखा होता तो उन्हें 'मेक अप' के लिए तो अवश्य नियुक्त कर लेता।

नाटक के दिन दूर-दूर से लोगों का समूह उमड़ पड़ा। किसी तरह लोगों के बैठने आदि का प्रबन्ध किया गया। नाटक शुरू हुआ। मास्टर सुखलाल हिरण्यकशिपु का पार्ट कर रहे थे। बड़े ढंग से पर्दा उठा। लोगों की तालियों की गड़गड़ाहट से पण्डाल गूँज उठा।

'जगदीश, जगदीश', मास्टर सुखलाल ने बड़े तपाक से हाथ नचाते हुए प्रह्लाद बने पात्र की ओर मुंह फिरा कर कहा, 'कहाँ हैं तुम्मारे जगदीश।'

प्रह्लाद बने पात्र ने राधेश्याम की तर्ज पर कविता पढ़ कर उत्तर दिया, तभी मास्टर सुखलाल कुछ घबड़ाये, उनका याद किया 'डायलाग' भूल गया, लोगों ने कुछ देर तक इसे अभिनय समझ बर्दाश्त किया, तभी सिटकारी और तालियां गूंजीं।

मास्टर सुखलाल आगे बढ़े और बोले, मैं हिरण्यकशिपु हूं, मेरी आज्ञा के बिना कुछ नहीं हो सकता, ओ पर्दे वाले पर्दा गिरा दो।

पर्दे वाले को बताया गया था कि परदा दरबार खतम होने पर गिरेगा, शुरू-शुरू में पर्दा नहीं गिर सकता। उधर मास्टर सुखलाल पर्दे वाले को डांट-डांट कर, पैर पीट-पीट कर पर्दा गिराने का 'डायलाग' कह रहे थे, जनता तालियां पीट-पीट कर हंसते-हंसते लोट पोट हो रही थी और उधर पर्दे वाला मुस्कराता हुआ मास्टर सुखलाल के डायलाग की अदायगी देख रहा था। बगल से एक आदमी ने दौड़ कर पर्दे वाले के हाथ से रस्सी छीन कर ड्राप-सीन किया। मास्टर सुखलाल हांफते हुए चौकी पर बैठ गये और रुआँसे होकर बोले 'सारा गुड़ गोबर हो गया। इस साले टेटनस ने मेरी मिट्टी पलीद कर दी।'

'यह टेटनस क्या है मास्टर' मैंने सहानुभूति दिखाते हुए पूछा तो बोले 'अब साहब क्या बतायें।'

बहुत समझा-बुझा कर उन्हें दूसरे दृश्य के लिए तैयार किया गया। उनके जाने पर बगल से उनका एक शिष्य बोला, 'मास्टर साहब को टकटकी होती है।'

मैंने कहा, यह टकटकी क्या है भाई ?

तो उसने आँखों को फाड़ कर पागल की तरह आचरण करते हुए कहा कि अक्सर उन्हें रहते-रहते टकटकी लग जाती है, खाते-पीते चलते-

बोलते चुप हो जायंगे और एक टक ताकने लगेंगे।'

'हे भगवान्' मैंने एक गहरी सांस ली।

इस प्रकार मास्टर सुखलाल का 'आर्ट' लोगों में कला के प्रति आदर भले न पैदा कर सका हो, कृत्रिम अभिनय में स्वाभाविक हास्य की सृष्टि तो कर ही सका। 'ड्रामा' तो खतम हो गया किन्तु मास्टर सुखलाल खुद एक बहुत बड़े ड्रामा मान लिए गये। नुक्कड़पर, चौराहेपर, ताल के किनारे कहीं मास्टर सुखलाल दिखाई पड़ते तो लोग-बाग ठिठक कर खड़े हो जाते। कोई अ-स्कूली लड़का हिरण्यकशिपुका 'पर्दा गिराओ' डायलाग पैर पीट-पीट कर अदा करने लगता, लोगों के कहकहे से गांव की उदास गलियाँ गुंजित हो जातीं।

इस ड्रामें से मास्टर सुखलाल का 'आर्ट' उतना उभर कर तो नहीं आ सका किंतु उनको एक बड़ी भारी कमजोरी गांव के शरारती लड़कों के हाथ लगी, वह थी उनकी टकटकी की बीमारी। अबतक उन्होंने इस बीमारी को 'गम्भीर विचारक' की मुद्रा के बहाने छिपा रखा था किंतु इस पर्दे के उठते ही बदमाश लड़कों के लिए वे हंसने का मसाला मिल गये। कभी-कभी मास्टर की दशा पर दया भी आती और पीड़ा भी होती।

और आज जब किशोर ने कहा कि उनकी बिदाई नहीं, बदली हो रही है तो मुझे तुरत आभास हुआ कि हो न हो मास्टर की जिन्दगी की कोई बड़ी जोरदार सनसनी खेज घटना का उद्घाटन होने वाला है।

मैं चाहने पर भी अपने को रोक न सका और मास्टर सुखलाल की बिदाई नहीं, बदली देखने स्कूल की ओर चल पड़ा। मैं जानता था कि बिदाई या बदली पर गांव वालों को दुःख होगा। बिना दाम के इस तमाशे के बन्द हो जाने की सबको पीड़ा होगी किन्तु इसी गांव में ऐसे भी तो हैं जिन्हें मास्टर सुखलाल के जाने पर प्रसन्नता होगी। इसमें सबसे अधिक प्रसन्नता होगी स्कूल की पड़ोसिन को, जो मास्टर सुखलाल के कारण परेशान हो जाती है। मास्टर सुखलाल को गप्पें हाँकने का नशा

है ही; रात को बारह बजे के बाद कहीं से गप्पें हाँककर वे लौटेंगे तो पड़ोसिन का घर जरूर खुलवायेंगे—पड़ोसिन भुनभुनाती, मास्टर के सात पुस्त को मन ही मन गंगा के दहन में डालती किवाड़ खोल कर पूछेगी, 'क्या है।'

मास्टर धीमे से बोलेंगे, 'पड़ोसिन जरा आग दे दो, बट्टी बना लूं।'

स्कूल पर कोई अतिथि आ गया तो मास्टर पहुँचेंगे 'पड़ोसिन जरा थाली दे दो अतिथि आये हैं। तुम्हारीं तो भैंस भी लगती है, हो तो थोड़ा मट्ठा।'

इस तरह हमेशा मास्टर सुखलाल कोई न कोई चीज मांगने पड़ोसिन के द्वार पर पहुँचते ही रहते और पड़ोसिन जल भुनकर खाक हो जाती।

मैं जब स्कूल पर पहुँचा तो लड़के नित्य की भांति अपनी सांगीत मय पढ़ाई में लगे हुए थे। मास्टर सुखलाल सामने की एक कुर्सी पर बैठे दो एक ग्रामीणों से बात कर रहे थे। बगल में एक नये मास्टर भी बैठे थे जिन्होंने मास्टर सुखलाल से चार्ज ले लिया था। मास्टर सुखलाल की कुर्सी के नीचे, उनकी राशन की थैलियाँ, जिनमें एकाध में राशन भी था, पीतल का पचका हुआ लोटा, उनका काला कम्बल, अंगरखा, धोती और टोपी सब यथास्थान। मुझे देख कर मास्टर सुखलाल उठे। 'आइये, आइये, बैठिये।' मैं बगल की चारपाई पर ही बैठ गया तो वे फिर उसी कुर्सी पर बैठ गये। उन्होंने गर्दन झुका ली थी। चुपचाप वैसे ही बैठे रहे। फिर सिर ऊपर उठाया, उनकी झुर्रियों में स्याह रंग उभर आया था। उन्होंने अपनी चीज-बस्त समेटी और बोले, 'अच्छा भाईजी, मैं तो अब चलूंगा देर हो जायगी।'

'अच्छा' हम लोग उठे और मास्टर सबको नमस्कार करके चल पड़े।

'भला आदमी था' बगल के नये मास्टर बोले।

'कहाँ बदली हुई है' मैंने पूछा।

'बदली कैसी साहब' नये मास्टर ने कहा, 'पिछली हड़ताल में ये

शरीक थे। इन्होंने माफी नहीं मांगी, इसी से बर्खास्त कर दिये गये।'

'बर्खास्त' मेरे मुंह से निकला। मैं और वहाँ बैठ न सका। न जाने क्यों मुझे मास्टर का उस तरह जाना अच्छा नहीं लगा था। बहिरू मास्टर की न बिदाई हुई न बदली, वे बर्खास्त कर दिये गए और तब न जाने क्यों मेरे मनमें बहिरू मास्टर के प्रति अनजानी श्रद्धा का भाव उमड़ आया। मुन्नी की तरह ही मेरा चित्त भी किसी उत्सव और तमाशे के लिये मचल पड़ा।

सामने के मकान के चौखट पर पड़ोसिन खड़ी एक टक मास्टर को जाते देख रही थी।

'क्यों बाबू' बहिरू मास्टर सदा के लिए चल गये?'

मैंने कठिनाई से कहा, हाँ। और देखा उसके चेहरे पर शाम उतर आयी।

कबूतरों का अड्डा

पिछवाड़े की खिड़की से कबूतरों का अड्डा दिखाई पड़ता है। बूढ़ी देवला के दो मंजिले मकान की ऊपरी छत पर यह अड्डा किसी पुराने रईस के खानदानी मकान की गौखकी तरह बीचो बीच उभर कर खड़ा है। चारों दीवालें पतली ईंट की बनी हैं जिनकी लम्बाई तीन-चार हाथ से अधिक न होगी। ऊपर टीन की चादर की छाजन है और इसी छोटे से मकान में सैकड़ों खाने बने हैं जिनमें बीसियों किस्म के कबूतरों के जोड़े रहते थे। यह अड्डा नहीं, खंडहर अब भी खड़ा है, ऐसा ही पिछली रात भी खड़ा था, शायद आगे भी खड़ा रहेगा। पर मेरे दिमाग में इसके जिस दिन का नक्शा है वह कुछ और तरह का है यानी इन भोंडे-भोंडे मनहूस दिनों की धारा में एक नयी लहर की तरह जो किसी अनजान खित्ते से उठ कर धारा में आ मिलती है और अपनी तमाम रंगीनी, खुशी और खुशबू किनारों पर बिखेर कर गायब हो जाती है। आज अह अड्डा मसान है, इसमें न तो लक्के, जंगली, सब्ज, आदि कई किस्म के कबूतर हैं और न तो उनकी वह मस्तानी गुटरगूं।

इसी अड्डे के नीचे एक घर है। ऊपर के अड्डे की एक लम्बी छाया इस मकान पर मंडराती है। छाया कितनी घनी, कितनी शीतल और कितनी काली है, इसका पता हर एक ईंट बता देती है जिनके बीच की दरारें मुद्दत से मुंह बाये पड़ी हैं। पर एक दिन ऐसा भी था कि यह मकान अपने तरह का अकेला था और अब भी इस छोटे से मकान की रंगीनी मेरे दिमाग में इन्द्रधनुष की तरह नाच उठती है। आज की तरह न तो मैं बुड्ढा था और न तो दुनिया की हर खुशी से थोड़ा खिंचकर बिरक्त भाव से कुछ सोचते रहने की आदत ही थी, तब मैं इस लम्बे तालाब में खुद तैरने का आदी था। इस छोटे से मकान में हरी भाई और उनकी बुड्ढी माँ रहती थीं। हरी भाई तो मेरे बहुत जाने पहचाने थे, पर उनकी बूढ़ी माँ को मैंने नहीं देखा। एक लम्बे अरसे से हरी भाई को अकेला देखते-देखते ऊब गया था कि एक दिन सुना कि उनकी शादी हो रही है। बाँस में फूल खिले थे। बड़ी खुशी मनायी गयी, बड़ा मजा आया। कुछ दिनों तक आने जाने वालों का तांता लगा रहा, औरतों के मारे घर भरा रहता। बहू की हर चीज की तारीफ करना और इसके बाद अपनी बहन, फूफी, सास और ज्यादातर खुद अपनी चीजों को उससे अच्छा बताकर पड़ोसिनों पर अपनी धौंस जमाने का इतना बढ़िया मौका कम मिलता है, सो हफ्ते भर तक फुर्सत न मिली। एक दिन शाम होते होते मैं हरी भाई के घर जा पहुँचा। आंगन में चारपाई बिछी थी और उसकी दायीं पाटी के पास एक चटाई, जिस पर से अभी अभी एक आकृति लड़खड़ाते पैरों उठी है और अपनी रंगीन साड़ी में लिपटी-लिपटाई किसी जानदार गठरी की तरह लुढ़क कर पास वाले घर में चली गयी। मुझे देखते ही हरीं भाई हँस पड़े।

'आओ-आओ, तुम तो जैसे बेगाने हो गये हो भई खबर हो नहीं ली।' मैं उनकी चारपाई पर बैठ गया तो देखा उसके पास बिछी चटाई पर कुछ कटे-कटाये कपड़े हैं, बगल में सुई चमक रही है जिसका सफेद

डोरा पैर रंगते समय हाथ में लगे रंग से या नाखून की पालिश से रंगीन हो गया है।

'अरे कहां छिपी हो, आओ न बाहर, ये कोई पराये आदमी थोड़े हैं। पास में रहते हैं हमेशा का आना-जाना है, कब तक पर्दा करोगी।' हरी भाई ने कहा और बार-बार आग्रह करने पर भी उस जानदार गठरी से कोई जवाब न मिला तो ये खुद भीतर गये। काफी छीना-झपटी के बाद वे सफल हुए और इस बार मैंने देखा उस जानदार गठरी के बीच से एक काया फूट पड़ी है। सुडौल, पुष्ट अंगों वाली काया, जिस के पूरे विस्तार से एक दीप्ति उठ कर उस के चेहरे पर खिली है और उसकी आँखों में चमक है जिसमें बीसियों मानी हैं और उनका मिश्रण है जो अच्छा लगता है और जो बहुत दिनों तक याद रह सकता है।

खैर, बात कबूतरों के अड्डे की थी। इस अड्डे की रखवाली पिछले कई सालों से बूढ़ी देवला करती थीं। देवला के आज के झुर्रियों वाले शरीर, किनारी हीन धोती और उनकी थोड़ी सी झुकी कमर तथा उनके सन से सफेद वालों की रेखाओं में जो एक तस्वीर उभरती है उसके पीछे इस बुढ़ापे और स्नेहमण्डित रूप की छाया में एक ऐसा भी दिन मैंने देखा था जब चमड़े की चिकनाहट में बुरे दिन की मार से पड़ने वाली सलवट झांक भी नहीं सकती थी तब देवला भाभी युवती थी। शादी के कोई तीन साल के बाद देवला भाभी को लड़का हुआ, खुशियों का आर-पार न था। बरही के दिन चैत की सांझ की गेरुई छांह में आंगन में छोटी-सी चारपाई पर देवला भाभी बच्चे को थपकियां दे रही थीं। माता की आँखों में पुत्र के प्रति कितनी ममता है यह शायद स्वास्थ्य की अवस्था में उतनी साफ न झलकती, पर देवला भाभी के पीले पीले कृश शरीर पर एक बड़ी ही लुभावनी मोतिया आभा थी जिसमें कष्टों के कांटों पर खिले फूल की गन्ध थी। आदतवश मैं बिना सचेत किये जब आंगन में घुस आया तो वे अपनी उसी पुरानी बहुत दिनों तक याद रहने वाली

मुस्कान में खिल पड़ी और मेरी ओर देखकर बोलीं 'रायजी, अपना बच्चा देखने आये हैं ?'

देवला भाभी को अपने रूप का एहसास था, बच्चे की चादर को हटाते हुए बोलीं, 'देखा सोने पर भी होंठ हिला रहा है।'

मैंने बच्चे को छूते हुए कहा, 'कितना सुन्दर है भाभी, ठीक तुम्हारे जैसा।' वे बीच में बात काट कर बोलीं 'नाक तो तुमने देखी नहीं, चिपटी है। मेरी भी नाक भला ऐसी है ?'

'तब भाई साहब की नाक ही ऐसी कहाँ है ?'

देवला भाभी कट गयीं, झेंपतीं हुई बोली, 'तो तुम्हारी नाक ऐसी होगी।' हम दोनों जोर से हँस पड़े। मैं लड़के को 'लल्ला, लल्ला' कह कर हाथ पर उछालता रहा और देवला भाभीं बार-बार मना करने पर भी अपने लिए रखी तिसौरी में से एक ले आयीं और पानी रख कर पास ही बैठ गयीं। मैं बड़ा खुश था, मेरे पड़ोस के इस घर में एकाएक बसन्त नाच उठा था।

जेठ मुझे यों भी काटने दौड़ता है दूसरे उस साल कुछ ऐसा मौसम रहता था कि शाम बिलकुल सुनसान लगती। एक घण्टा दिन रहे भूरी-भूरी गर्द का एक अम्बार उठता और सूरज को ढाँक कर चारों ओर फैल जाता। कहीं घूमने का जी भी नहीं करता। मन उदास होने पर मेरे लिए हरी भाई के घर के सिवा और कोई जगह अच्छी नहीं लगती थी। जब भी मन में आया, मैं हरी भाई के घर की ओर मुड़ जाता था, पर अब तो पैर बढ़ाने की हिम्मत ही नहीं होती। चैत में देवला भाभी के बच्चे के जनम की खुशी मनायी गयी थी और यही जेठ था वह भी कि केवल एक दिन की बीमारी में हरी भाई का इन्तकाल हो गया। भाभी के ऊपर तो जैसे आग का पहाड़ टूट पड़ा। जलते जेठ में हवा का क्रूर थपेड़ा हजारों फूलों से धरती पाट कर रौंदने लगा और उसी अन्धड़ में देवला का सुख भी लुट गया जिसकी कोख में फूल-सा बच्चा था, पर मांग का पराग क्षार हो गया।

व्यथा मन में उठ कर कभी नष्ट नहीं होती। सांत्वना के शब्द उसके कुरेद-कुरेद कर पीड़ा देनेवाले उभार को आँसुओं में सुला देते हैं। रो-धो कर देवला विधवा बनी। दो ही चार दिनों के अन्दर उसका पूरा नक्शा बदल गया। वे जीवन की सभी दिशाओं में छाये आनन्द के कई रूपों से अपने को खींच कर केन्द्रित हो गयीं। अब उनका एकमात्र आधार था राजीव।

राजीव भी एक विचित्र तरह का लड़का है। आठ-दस साल के शहरी लौंडे अपना ज्यादा समय जब कि चाट खाने, गेंद खेलने, पतंग उड़ाने या और कुछ नहीं तो चुन-चुन कर गालियाँ देने में बिता देते हैं, यह कम्बख्त है कि दिन भर छत के किसी कोने में गाल पर हाथ रख कर बैठा रहेगा। न किसी का कुछ सुनना, न किसी से कुछ बोलना। मां ने लड़के का असमय विराग देखा तो परेशान हुईं। एकाएक एक दिन राजीव कहीं से दो जोड़े कबूतर उठा लाया और दिन भर उन्हीं के पीछे पागल रहा। देवला भाभी को जैसे जीवन मिल गया, दिन भर लड़के के साथ कबूतरों की सेवा में हाजिर।

उस दिन जब मन न लगा तो मैं चुपचाप उनके आँगन में घुस गया। देखा तो छत पर देवला भाभी कबूतर के बच्चे को हाथ में लिये खड़ी थीं और राजीव अपनी बाहों से उसे छीन लेने का असफल प्रयत्न करता हुआ उनके पैरों को जकड़ रहा था। काफी शोरगुल मच रहा था मैंने नीचे से कहा, 'क्या बात है भाभी, मां-बेटे में कैसी लड़ाई है?' देवला भाभी ने सिर पर धोती खींची और मेरी ओर देख कर बोलीं, 'आइये रायजी, आप तो जैसे दिखाई ही नहीं पड़ते।' मैं भी छत पर जाकर खड़ा हो गया।

'देखी आपने इसकी शैतानी, अभी पन्द्रह दिन से बेचारे को पांखें निकली हैं, उड़ता है तो तौल भूल जाता है। अब लड़खड़ाया तब लड़खड़ाया और यह है जो जबर्दस्ती दरबे से निकाल कर उड़ाया चाहता है।'

'नहीं-नहीं चाचाजी' राजीव बोल पड़ा, 'मजे से उड़ लेता है। दरबे में बैठा-बैठा भोंदू हो जायेगा, मैं लाख समझाता हूँ, मां मानती नहीं।'

देखा देवला भाभी के हाथ में एक सब्ज कबूतर का बच्चा है जो अपनी नन्हीं-नन्हीं आँखें मुलमुला कर देख रहा है। जैसे उसे कोई चिंता नहीं, मां-बेटे नाहक झगड़ रहे हैं। कौन कहता है कि उसे उड़ना नहीं आता है। अरे वह तो छुट्टी पाये तो झट से एक पेंग लगाये कि देवला भी देखे, पर उस छोटे से पक्षिशावक को क्या पता कि देवला की आँखें रह-रह कर अड्डे पर उदास बैठी कबूतरी पर जा टिकतीं हैं जो अपने झुंड के साथ न जाकर इस नादान बच्चे की हिफाजत के लिए बेचैन है।

'अच्छा, आज जाने दो बेटा, शाम हुई, कल उड़ाना नहीं रात में कहीं खो जायगा, समझे !'

राजीव मेरी बात मान गया और मेरी अंगुली पकड़ कर कबूतरों के उस अड्डे को दिखाने लगा। कबूतरों का यह अड्डा कोई जादू का खेल न था जो एक क्षण में खड़ा हो गया जिसमें इतने सारे रंगीन कबूतर इकट्ठा रहने लगे और खूबसूरती यह कि दिन में चढ़ती धूप में, भींगती सुबह में ये कबूतर कटी पतंग-से आसमान के किसी कोने में खिलें, शाम होते-होते न जाने किस सूत की ताकत इन्हें खींच लाती, पता नहीं इस घास-फूस के अड्डे में कौन-सा मजा मिलता कि वे सब के सब इसी पर आकर बैठ जाते और फिर अपनी गर्दन फुला-फुला कर अपनी उड़ानों के बीसों रोमानी क़िस्से अपनी प्रेयसियों को सुनाते। राजीव ने अड्डे के पास एक बर्तन में पानी का इन्तजाम किया। रोज सुबह-शाम वह इसमें ताजा पानी डालता, सरसों और चावल छींटता और उसने अपने सचेतपने से इस अड्डे में वह ताकत पैदा कर दी जो हर आसमानी कबूतर को खींच सके। यह अड्डा गोया आसमानी उड़ान के लिए शक्ति का कोई केन्द्र था।

देवला भाभी पिछले दिनों बड़ी उदास रहतीं, उनकी झुर्रियों में एक बेमना-सा भाव छाया रहता। राह चलते उनकी भौहों में बल पड़ जाते

जैसे वे बड़ी शक्ति लगाकर कुछ सोचतीं। उनकी मुद्रा में एक खिंचाव सा आ गया। उनका बुढ़ापे से ढीला-ढाला चेहरा कुछ लम्बा-सा हो गया। मैं इस परिवर्तन के भाव को ताड़ता था और जानता था कि आज से बीस साल पहले एक औरत के हृदय में जो घाव लगा था, जिसे उसने बड़ी मुश्किल से पुराया था, उसकी पीड़ा इतने दिनों बाद अचानक यदि उमड़ी है तो जरूर इसमें कोई झटका लगा है रगों के खून में कहीं खिंचाव आया है और वह घाव फिर हरा हो गया है। पर शुरू से ही देवला भाभी कुछ इस कदर की औरत रही हैं कि उनकी भीतरी बात को सही पहचान जाना जैसे उनके व्यक्तित्व को हल्का कर देना है। साहस कर के यद्यपि पूछना चाहता, मन से जिज्ञासा के शब्द निकलना चाहते पर मैं खुद प्रश्नवाचक-सा खड़ा रह जाता।

गर्मी के दिन थे। शाम तक घर से बाहर निकल सकना मुश्किल था। मैं अपने बरामदे में चुप चाप लेटा सूरज के ठंडे पड़ने की प्रतीक्षा कर रहा था कि किसी ने बाहरी निकसार का दरवाजा खोला।

'कौन है।' मैंने उठ कर देखा तो देवला भाभी खड़ी थीं। उनके पीले शरीर पर वही किनारी हीन साड़ी थी; वे औसत से कुछ अधिक लटक गयी थीं, लगता था बहुत दिनों से बीमार हैं। उनके हाथ में एक पतली सी छड़ी थी जिसका सहारा लेकर वे खट् खट् करती मेरे पास आकर खड़ी हो गयीं। मैं हड़बड़ा के उठ बैठा।

'क्या है भाभी।'

'कुछ नहीं, कुछ नहीं, आप बैठे रहिये रायजी' उन्होंने धीरे से कहा और बार-बार चारपाई पर बैठने के लिए आग्रह करने पर भी छड़ी पर जोर देकर जमीन पर ही बैठीं। बड़ी देर के बाद बोलीं, 'रायजी, क्या तुम राजीव को कुछ समझा सकते हो।'

मैं देवला भाभी के दुःख को समझता था। मैंने उन्हें बहुत समझाया और किसी प्रकार शांत करके भेजा।

राजीव बहुत बदल गया था, कबूतरों के अड्डे से वह जी न बहला सका। महीनों घर से गायब रहता, कभी सुना कि किसी शहरी दोस्त के साथ शहर में घूमता पाया गया, कभी सुना की क्रान्तिकारी हो गया है उसका बड़ा नाम है, सभा जलसों में बोलता है तो सुनने वाले दंग रह जाते हैं, वह क्या करता है कहाँ रहता है इसे कोई न जानता था, मैं इसे शोहदेपन से ज्यादा कुछ न समझता था। होगी उसकी इज़्जत पर क्या कोई इस तरह घर को भुला कर इज्जत के पीछे दौड़ता है, मैंने उसे बहुत समझाया, लाख नीच-ऊँच दिखलाया तो मुझसे रुष्ट होकर बोला; आप मेरी कीर्ति पसन्द नहीं करते। आपको क्या मालूम कि मैंने कितने बड़े जोखम का काम उठाया है, मेरे ही ऊपर मेरे तमाम दोस्तों का दारोमदार है। क्या आप चाहते हैं कि मैं उनको धोखा दे दूँ और इस गोरखधन्धे में घुट घुट कर जान दे दूँ।

मैं अवाक् उस लड़के की ओर देखता रहा। उस पगले को इतना भी नहीं पता कि लड़के की कीर्ति मांसे अधिक किसे प्यारी हो सकती है।

एक दिन उसकी मांने कहा, 'तू अब घर भी देख बेटा, आखिर मैं बूढ़ी हुई, कबतक रहूंगीं।'

उसने बूढ़ी देवला की बातों का कोई ख्याल न किया और बोला, 'तू मुझे इस चहारदिवारी में बन्द करेगी' और फिर न जाने क्या-क्या बकता रहा। देवला भाभी मुस्कराईं। मुझे अभी वह मुस्कराहट याद है। दिल की अथाह व्यथा की एक लहर ही जैसे चमक कर छा गयी, बोलीं, 'आखिर तुझे अपने लिए ही सही, पर यह सब इन्तजाम तो करना ही पड़ेगा। तेरा बाप कोई बहुत बड़ा आदमी नहीं था।' फिर न जाने क्या सोचकर वे भीतर गयीं और कुछ रुपये लाकर उसके हाथों पर रख कर कहने लगीं; 'अपनी देह की फिकर करना राजीव तू दिन-दिन दुबला हो रहा है।' राजीव ने रुपये हाथ में ले लिये। देवला के पास यह शायद अन्तिम धन था। चांदी के रुपये अपने पीछे शून्य, मुर्दे की तरह ठंढे पात्र

छोड़ कर चले आये थे। राजीव चला गया।

इधर बूढ़ी देवला को अपने घर के द्वार पर बैठ कर लड़के की बाट जोहते सुबह से शाम हो जाती। घर में पहुंचते ही प्यासे कबूतरों की गुटरगूं से उनका रोम-रोम सिहर जाता। सीढ़ी पर चढ़ कर अड्डे के पास पानी रखने की ताकत उनमें न थी। नीचे ही एक थाली में पानी रख देतीं। चावल छींट देतीं और ये रंगीन कबूतर फड़फड़ा कर झुण्ड के झुण्ड कूद पड़ते। कोई उनके कन्धे पर बैठ जाता, कोई उनके बालों को पंख की हवा से बिखरा देता। देवला भाभी उनकी इन हरकतों पर मुस्करातीं, पर पता नहीं उनकी हंसी में क्या होता कि कबूतर भी चुपचाप पानी पीकर अड्डे की ओर उड़ जाते।

दो-तीन महीने बीत गये, तीन महीने का समय ही कितना, काल की विशाल धारा में छोटी लहर की तरह किसी ने कंकड़ी फेंकी, लहर उठी और विलीन हो गयी। बरसात की वह काली रात भी क्या भूल सकती है। बड़ा सुनसान डरावना-सा लगता। कुत्ते बुरी तरह भूंकते जैसे छाती की सांस में कोई भार फेंक-कर जी को हल्का करना चाहते और उस महा भयानक रात्रि की सुबह में सुना देवला भाभी नहीं रहीं। मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वह बीमार तो कई महीने से थीं। व्यथा के समुद्र में कबतक तैरतीं! लहर ने एक झटका दिया और वे एक किनारे लग गयीं।

मैं एक दिन उस आंगन में गया। दीवालें जैसे अपार दुःख को बड़ीं मुश्किल से संभाले खड़ी थीं। देखा एक चारपाई पर पड़ा राजीव सिसक रहा है, शायद उसे आज कोई अभाव मालूम होता है। सामने कबूतरों का अड्डा गिर गया था। आसमानी कबूतरों को सुखी रखने के लिए उनके पैरों में वह ताकत देने के लिए जिससे वे आसमान में तैर सकें, घास फूस का अड्डा जरूरी था। राजीव फूटकर रो पड़ा। शायद उसने आज जान लिया कि आसमानी कीर्ति का भी एक आधार होता है। प्यार को

लम्बी-लम्बी छाया को सँभालने के लिए एक ढांचा होता है और उसकी मां उसकी तमाम आसमानी खुशियों का एक ढांचा थीं, हाड़ मांस का अड्डा, जो फिर नहीं बनाया जा सकता है।

उस दिन तारीख थी

सबेरे चार बजे ही धुंधलके में देवीसिंह गांव से चले। पछुवा की सर्द हवा उनके मोटे कम्बल को छेद कर उनकी छाती की हड्डियों में घुस जाती। उस समय अचानक ही उन्हें बड़ा बुरा मालूम होता। अपने जीवन को थोड़ा कोसते। सन्तोष की एक भावना उनके कष्टों पर सफेद चादर-सी डाल कर मुस्कराती और मन में आता यह सब दौड़-धूप, लड़ाई मुकदमा छोड़ कर भगवान का नाम लें। यह सब उनके लिए पहाड़ सा मालूम होता पर करें क्या ? सारा गाँव जब कि पयाल की सेज पर कम्बल में सिमटा उगते हुए सूरज की प्रतीक्षा कर रहा है, एकाध बूढ़े अपनी मोटी सी चादर में लिपटे अलाव को चीर-चीर कर आँच को खींच कर पी जाने का प्रयत्न कर रहे हैं, किसी आँगन से गर्म उबले हुए धान के कूटने की गन्ध उठ कर पूरी गली को सुवासित कर देती है, उस समय देवीसिंह ही एक ऐसे अभागे हैं जिन्हें सूरज उगने के दो-ढाई घंटे पहले, जाड़े की तीखी हवा में घर छोड़ कर जाना पड़ा है। एक ओर इस विराग मिश्रित मोह की चादर को ओढ़ कर वे कुछ सोचते, तभी उनके मन में एक विक्षोभ की भावना उमड़ती। भला, जज-कलक्टर इतने

पढ़े-लिखे लोग कहे जाते हैं। उनके दिमाग़ में इतनी छोटी-सी बात नहीं आती कि सचमुच दोष देवीसिंह का नहीं, ठाकुर देवनाथ का ही है जिन्होंने उनकी खड़ी खेती का सत्यानाश कर दिया। जेठ-वैशाख की तपती दुपहरी में देवीसिंह ने अपने पसीने से धरती सींची, सावन की सनसनाती बौछार में उनका हलक सूखता रहा, उन्होंने रोपनी की। और आज जब अगहन में सबके खेत कट रहे हैं, सब के घरों से नए चावल की गंध आ रही है, देवीसिंह के घर एक छँटाक भी चावल नहीं, जिससे किसी आनेवाले का आतिथ्य कर सकें।

चिपचिपी ओस पर देवीसिंह का जूता ठरक जाता। पर वे चुपचाप बढ़ते गए। स्टेशन आ गया था। घने कुहरे को छेद कर सिगनल की लाल बत्ती लूक की तरह खड़ी थी। पास ही एक बहुत बड़ा हड्डी का गोदाम था—दो एक कुत्ते आपस में उलझ रहे थे। माल गोदाम के पास तारकोल के एक डिब्बे के फट जाने से बुरी गंध मँडरा रही थी। चौकोर तिकोने पत्थरों से जड़ी प्लेटफार्म पर जगह जगह लेटे, बैठे, टेढ़े सीधे आदमियों की भीड़ बढ़ने लगी थी। देवीसिंह चुपचाप बढ़ते गए।

'ओ बुड्ढे, क्या देखता है, कहाँ जायेगा ?'

देवीसिंह चौंके, 'बनारस बाबू'

'तो निकाल पैसे।'

जाड़े की मार से ठिठुरे हाथ। देवीसिंह ने धोती की गाँठ से पैसे निकाले। हाथ में जाड़ा धँस गया है, सो सीधे नहीं होते। टिकट बाबू ने खाने से एक टिकट निकाल कर तारीख वाली मशीन में ढकेल दिया।

'अरे क्या करता है, एक तू ही तो नहीं जायेगा ? इतना लोग खड़ा है। ओ सब क्या तेरा मुँह देखेगा ?'

देवीसिंह चुपचाप पैसे गिनते रहे। खिड़की के पास खड़े लोग उनकी ओर मुँह फैला कर देख रहे थे। सब के चेहरे पर एक ही भाव था। शायद यही कि कितना मूर्ख है ? अरे पैसा गिनना नहीं जानता। देवीसिंह को लगा

जैसे पीतल वाली एक इकन्नी इसमें बिना गिने जा रही है, या तो हो सकता है वह छूट ही गई। हिचकिचाए। कम होगा तो टिकट बाबू बेइमान समझेगा।

'देता नहीं, ताकता क्या है?' देवीसिंह ने पैसे रख दिए।

'गिनना भी नहीं जानता।' देवीसिंह ने सुना और वे गाँठ के पैसे टटोलने लगे तभी एक एकन्नी बढ़ाते हुए टिकट बाबू ने कहा, 'यह क्या खैरात बाँटता है, हटाओ जल्दी। हाँ भाई, बोलो कहाँ जायेगा' और देवीसिंह टिकट और पैसों को मुट्ठी में दबाए भीड़ से बाहर हुए। कड़े-कड़े कागज़ का एक टुकड़ा टिकट है, जो तांबे, गिलट और चांदी के टुकड़ों के बदले मिलता है सो उन्होंने टिकट को भी धोती की खूंट में ही और पैसों के साथ बाँध लिया। चुपचाप हारे-थके आदमी की तरह प्लेटफार्म की ओर बढ़े। मन ही मन अपने को कोसा। उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ कि पैसा गिनना भी नहीं आता। टिकट बाबू कितना भला है, उसने पैसा लौटा दिया। बोलता ज़रूर थोड़ा रूखा है; पर टिकट बाबू है न।

जाड़े की मार से उनके पैर अकड़ गए थे। सामने प्लैटफार्म पर यात्रियों के बैठने के लिए सिमेंट की बेंचें बनी हैं। एक पर तीन बैठे हैं, एक पर एक, लेकिन खाली जगह पर उसने एक बड़ा-सा गठ्ठर डाल रखा है। बग़ल में थोड़ी सी जगह है। किसी तरह सिमट कर एक आदमी अँट सकता है। देवीसिंह उधर ही लपके।

'ओ बुड्ढे' गठ्ठर वाला चिल्लाया, 'आँख नहीं है? देखता नहीं सामान? दुनिया भर की जगह इसी पत्थर पर है?'

'अरे भाई, ज़रा एक ओर कर लो, हम दोनों बैठ लेंगे।'

'चल चल, हमने तेरे ऐसे रँगे सियार बहुत देखे हैं। लगने को बेचारे, गला मूड़ते देर नहीं लगती।'

'क्या है भई, दूसरी बेंच से सोए सोए एक ने कहा, कौन है यह, क्या कहता है?'

देवीसिंह चुपचाप दूसरी ओर चले गए। मन को ठेस लगी आखिर दुनिया को क्या हुआ है ? किसी पर विश्वास नहीं। सब दूसरे की ओर कौवे की तरह देखते हैं। कुत्ते की तरह गुर्राते हैं। उन्होंने अपना कम्बल समेटा और आम की जड़ में पीठ टिका कर बैठ गए। इस बार तीसरी तारीख है। पता नहीं यह झंझट कब तक चलेगी ? उन्होंने जेब से सलाई निकाली। काँटी घिस कर बीड़ी दगाई। एक कश खींच कर घोंट गए। कड़ुआ कश, लेकिन मीठा लगा। उसमें झिड़क नहीं थी, मन की तमाम तकलीफों को सहला कर एक क्षण के लिए भुलावा देने की ताकत थी। आधी बीड़ी जली थी कि गाड़ी आगई। पिटी पिटाई नाक वाला इंजन, जड़-जंगम को कँपाता, आकर रुक गया। चलना ही इसका काम है। दिन भर चलना, रात भर चलना, रुकता भी है तो चलने के लिए।

यात्रियों का शोर, ठेले की घरघराहट, समान घुसा दिये जाते। उछलते कूदते। आदमी सामान की तरह बेबश धक्का खाता, गिरता, जहाँ पहुँचता वहीं पड़ा रहता। देवीसिंह ने डब्बे की हैंडिल पकड़ी तो एक ने धक्का दिया 'अरे बाबा, और जगे ढूंढो। तमाम दुनिया की जगह इसी डिब्बे में है ?' और वह छाती ताने, बाहों से धक्का देते, किसी की टोपी उछालते, किसी का पैर कुचलते, घुस गया।

गाड़ी ने सीटी दी तो देवीसिंह घबड़ाये। हैंडिल पकड़े उन्हीं की तरह तीन चार भरे डिब्बे में घुसने को आतुर ! डिब्बे में आदमियों कि देह है कि रूई का बोरा। घुसते जाओ। घुसते जाओ, आखिर इसकी भी तो हद है। भीतर वाले ने कहा, बस। गाड़ी ने धक्का मारा तो देवीसिंह उस डिब्बे की आशा छोड़ पीछे भागे। कहीं गाड़ी छूटी तो बड़ी आफ़त। एक खाली डिब्बे की हैंडिल पकड़ी, देह को झटका लगा; पर सरकसी बन्दर की तरह लपक कर दरवाजे पर खड़े हो गए। प्लेटफार्म पर यात्रियों की रखवाली करने वाला सिपाही चिल्लाया 'अरे बूढे, जान देगा क्या ? तेरी तो जान जायेगी, पर मेरी नौकरी की तो सोच !'

सेकेंड क्लास का डब्बा था। लम्बा, गोया छोटे छोटे दो तीन डब्बों को जोड़कर बना है। हरा वार्निश में रँगा चमकता हुआ। भीतर आराम देह डनलप कुशन की मुलायम गद्दियाँ। देवीसिंह ने कनखी ताका तो कोने में देखा एक जोड़ा सफेद पोश। कबूतर की तरह आपस में चारा बाँटते। देहाती आदमी स्वभाव से ही झेंपू, सो उन्होंने अपने को समेट कर और भी बाहर कर लिया। गाड़ी चली। उन्होंने लम्बी सी साँस ली। कितनी भीड़ थी, बुदबुदाए, और वह पगड़ी वाला! ऐसा धक्का दिया कि अभी भी बाँह दर्द करती है।' तेज हवा का एक झोंका आया और पूरी गाड़ी को झकझोरता निकल गया। दरवाजे पर खड़े देवीसिंह ने कम्बल सिकोड़ लिया और सर्दी से बचने का बहाना करने लगे।

आठ बजे से बैठे-बैठे दस बजाना बड़ा मुश्किल मालूम होता है। वरुणा का एक पुल है, कचहरी जाने वाली सड़क पर। नाम है विक्ट्री ब्रिज। इस पुल का निर्माण हुआ था विजय की खुशी में। साल ठीक मालूम नहीं। उसी साल जब शायद हिरोशिमा पर एटम बम गिरा था। हाँ तो उस विक्ट्री ब्रिज के नीचे बहती है वरुणा। काई, सेवार और गंदगी से शहर की तमाम गन्दगी को छाती से चिपकाए वरुणा पवित्र भागीरथी में मिलती है राजघाट के पास। इसी पुल पर देवीसिंह अक्सर बैठते हैं। दो घंटा वे बिता देते हैं, बड़े आराम से। कभी बीड़ी फूंक कर, या सुर्ती ठोक कर या यदा कदा दो एक पैसे की मुँगफली तोड़ कर।

आगे, दो एक फर्लांग के बाद कचहरी है। ईंट की बनी भव्य इमारतें! मुगल और अंग्रेजी शैली के गुम्बज, जिन पर सिमेंट से बना 'क्राउन' है। पूरा हाता कटीले तार से घिरा है जिनके पास ही कटीली झाड़ियों की दीवाल है। जिसे माली कैंची से काट कर एक बराबर बनाता रहता है। भीतर घुसिये तो एक बड़ी तीखी गन्ध उठती है। कैसी गन्ध; कहा नहीं जा सकता। रद्दी कागज, दस्तावेज, स्टैम्प, पुराने बस्ते, इनसे भरा एक सन्दूक होता है। बरसात के बाद धूप दिखाने को खोलिए,

एक गंध उठती है न, वैसी ही घुटी हुई कागजी गंध। एक लम्बा हुजूम, विभिन्न वेश में, जिस में कन्धे पर कम्बल, पैर में चमरौधे जूते वाले गँवई अधिक, शहरी कम। शहरी प्रायः टाईप वाले, मुख्तार, वकील, साहब, चपरासी, अर्दली, क्लर्क या ऐसे ही कुछ।

आगे चलिए तो हुजूम के कुछ लोग मिलेंगे। मुँह पर पपड़ियाँ, चेहरे पर विचित्र क़िस्म की मनहूसियत थके, प्यासे, भूखे। बगल में कुछेक दुकानों पर हँसी गूँजती है। वे गवाह हैं, यह कहने आये हैं कि फलाँ आदमी ने घर फूंका है। वे संख्या में आठ हैं, चार ने घर जलते देखा है, चार ने बिल्कुल ठीक वैसे का वैसा। हाँ, ये काली पोशाक वाले वकील और मुख्तार, इनकी पोशाक काली है तो इससे क्या? ये ही दूध का दूध और पानी का पानी अलग करते हैं। बिल्कुल साफ, सफेद सत्य।

इसी हुजूम में कुछ देर के लिए देवीसिंह खो गए। उन्होंने कुछ देर अपने मुख्तार को ढूंढ़ा। उसने उनकी बात अनसुनी कर दी। वह अपने नए मुवक्किलों से सौदा पाटी कर रहे थे।

'हाँ बाबू' एक सूखे चेहरे के किसान ने कहा, 'ऐसा मज़ा चखाइए कि बच्चू को छठी का दूध याद पड़े। समझे कि किसी से पाला पड़ा है।'

'आप भी देखिएगा पंडित जी, साहब बिल्कुल नया आया है। हीरा है हीरा। आदमी पहचानता है। और फिर त्रिलोकी शाह को मैं मुद्दत से जानता हूँ। टुटपुंजिये मुख्तारों से लड़ कर दिलेर बने हैं। किसी से पाला पड़े तो हेकड़ी भूल जाय।'

किसान गदगद हो गया। मुख्तार साहब ने कहा 'लेकिन पण्डितजी रत्नेश्वर को मिठाई जरूर चढ़ाइगा। जो कुछ होगा सब उन्हीं की कृपा से।'

'जरूर साहब, यह भी कहिए। बाजे के साथ मनौती करूँगा।' पंडित जी ने कहा और प्रसन्न-चित्त भगवान की महिमा और मुख्तार साहब के गुणों का बयान करते हुए एक ओर चले गए।

'अभी आ रहे हो ?' मुख्तार ने देवीसिंह की ओर देख कर कहा, 'सब ठीक कर दिया है। यहीं बैठिये। साहब लंच पर गए हैं। आते ही पेशी होगी।'

बगल से एक नवयुवक झपट कर आया और उसने मुख्तार से कुछ कहा। 'क्यों ठाकुर, इसे भी गाँव समझ लिया है। यहाँ उधार-पट्टी नहीं चलती। आपने काग़ज टाइप का पैसा नहीं दिया ?'

'काग़ज का ? दिया था न मुख्तार साहब ! उस बार चार रुपए आप की फीस के और एक रुपया आपने काग़ज का लिया था। सब पांच रुपए।'

'वह काग़ज का था कि टाइप का था। मुकदमा लड़ने चले हो कि खिलवाड़ करने। निकालो पैसे।'

देवीसिंह क्या कहते ? चुप खड़े हो गए अपराधी की तरह। उनकी मासूम, बुढ़ापे की कमज़ोरी से पीली गर्दभरी आंखों में एक चमकीली लहर सी दौड़ गई। उनका चेहरा निश्चल, ठंढा सा हवा में उठा रहा। उन्होंने मुख्तार की आँखों में जल्दी में देखा और अपनी धोती भी खूट टटोल कर गाँठ खोलने लगे। पूरे पैसे को हाथ पर फैला लिया। पाँच रुपये का एक नोट। कुछ पैसे। उन्होंने पैसे गिनने शुरू किए।

'नोट लाओ ठाकुर, पैसे लौटाता हूँ।' टाइप वाले ने कहा।

'कितने पैसे हैं' मुख्तार ने नोट देकर कहा 'आठ आने होंगे।'

'आठ ही आने।' टाइप वाले ने कहा।

'हां, जगदीश, आठ आने, और क्या लोगे ?' मुख्तार मुस्कराए। देवीसिंह का हाथ रुक गया था। उन्होंने आठ आने पैसे गिने और मुख्तार के हाथ पर रख दिया। दोनों चले गए।

देवीसिंह कचहरी के सामने वाले पीपल की खोखली जड़ में बैठ गए। पास में तीन चार और बैठे थे पेशी की इन्तज़ार में। देवीसिंह ने पैसे देखे। केवल पाँच रुपए और एक दो आने पैसे बचे थे। चार मुख्तार की फीस हुई। पंद्रह आने गाड़ी के किराए। तीन आने पैसे बचते हैं। स्टेशन तक

तो पैदल भी जाया जा सकता है। उन्होंने अमरूद लेना चाहा तभी कचहरी के दरवाजे से उनका नाम पुकारा गया। देवीसिंह का नाम। देवीसिंह इधर उधर दौड़कर मुख्तार को खोजने लगे। बिना मुख्तार के काम कैसे चलेगा? नाम भले देवीसिंह का पुकारा जाय लेकिन बोलता तो मुख्तार ही है। क्योंकि वह कानून जानता है। मुख्तार किसी दूसरी इजलास में फँसे थे। दौड़े दौड़े वहाँ गए। भीतर झाँकने की हिम्मत न हुई। शायद कोई बुरा-भला कह दे। फिर भी साहस करके दो एक बार खिड़की से देख कर मुख्तार से यह कह देना चाहा कि ज़रा जल्दी चलिए हमारा नाम पुकारा गया है।

कोई पन्द्रह मिनट के बाद मुख्तार कमरे से बाहर आए। देवीसिंह को दरवाजे पर खड़ा देख बिगड़े, 'क्या खड़े हो जी, दरवाजे के सामने। देहाती, जरा भी सलूक नहीं? यह इजलास है कोई हँसी खेल नहीं। साहब बिगड़ जाये तो।'

देवीसिंह क्या कहते? उन्हें उम्मीद थी मुख्तार अपनी देर के लिए अफ़सोस जाहिर करेगा, दुःख जतायेगा; पर उन्हें उल्टे झिड़की मिली। तो चुप हो गए। मन में एक जलती सी हुंकार उठी। उनकी आंखें चटक उठीं। मन ने समझाया परदेश है। नींच ऊंच होता ही रहता है। पर उनके भीतर का दग्ध अन्तर बार बार पूछता आखिर ऐसा क्यों? क्यों लोग इतना दुतकारते हैं। कौन सी बात है जो लोगों को पसन्द नहीं आती। उन्हें गुस्सा भी आता अपने पर, अपनी कमजोरी पर, अपनी असमर्थता पर। वे चुपचाप मुख्तार के पीछे-पीछे चलते गए। खेती छीन जाने का दुख, झिड़की का दुख, वे सब भूल गए मन में अपनी अवस्था के प्रति एक असन्तोष उठा।

तभी मुख्तार ने कहा, 'लाओ फीस के रुपये।'

उन्होंने अपनी गाँठ खोल कर पाँच रुपए का नोट निकाल कर मुख्तार के हाथ पर रख दिया। वह लेकर जाने लगा तो बोले, 'एक

रुपया लौटा दीजिए मेरे भाड़ा का।'

'भाड़ा का, और पेशकार की फीस ?'

'पेशकार की ?'

'हाँ हाँ, वह न होता तो शाम तक बैठे मक्खी मारते।'

'वह बाद में दे दूंगा मुख्तार साहब !'

'लीजिए' मुख्तार पाकेट से एक नोट निकाल कर उनकी ओर बढ़ाते हुए बोला, 'मत दीजिए। कुछ बिगड़े तो मेरा दोष मत दीजिएगा। आखिर उसका भी तो कुछ होता है।'

देवीसिंह के कान में मुख्तार के शब्द थे। मुक़दमें के बिगड़ने का अन्देशा था। उनकी आँख में रेल थी, टिकट का किराया था और ऊपर एक लम्बा शून्य, नीचे औंधा मनहूस आसमान था। उन्होंने ऊपर देखा और एक साँस खींच कर नोट बढ़ाते हुए बोले, 'अच्छा लेते जाइए, देखिये मुक़दमा बिगड़े न। गरीब को आपही का आसरा है।'

मुख्तार ने नोट लेकर जेब में रखी और सीढ़ियों पर खट खट करता भीतर चला गया। देवीसिंह चुपचाप दबे पावों मुख्तार के साथ ही इजलास के कमरे में घुसे, और एक कोने में दुबक कर खड़े हो गए, पता नहीं बहस में क्या कहा गया, कुछ भी उनकी समझ में नहीं आया।

काफी अर्से के बाद मुख्तार आते हुए दिखलाई पड़े। देवीसिंह हड़-बड़ा कर उठे जैसे किसी लड़के ने रबड़ के लाल पीले गुब्बारे देखे हों। धीरे धीरे पास पहुँचे। मुख्तार के चेहरे की ओर एक टक देखते रहे। मन में किसी प्रसन्न स्फुरण ने कहा, लो देवनाथ सिंह को आज अपनी ज़्यादती का नतीजा मिल गया।

मुख्तार बोला, 'साहब ज़रा जल्दी में था ठाकुर साहब, खैर उन्होंने १६ तारीख डाल दी है। इस बार फैसला हो कर रहेगा। उन्नीस तारीख; आज चार है। अगली नहीं उसके बाद की। यानी एक महीने पन्द्रह दिन के बाद।'

मुख्तार को कुछ जल्दी थी। वे चले गए। देवीसिंह वहीं चुपचाप खड़े हुए पत्थर वाली लम्बी-चौड़ी कचहरी को देख रहे थे। उनके हृदय से एक लम्बी साँस निकली उत्तप्त, जो पीपल के झकोरे में खो गई।

उन्होंने ऊपर देखा। जाड़े का सूरज ठंडा हो गया था। शाम होने ही वाली थी। वे चुपचाप वहाँ से चले। दिन भर के भूखे प्यासे।

आगे वरुणा की छाती पर शाम का तीखा धुवाँ जम कर छा गया था। पुल पर से इक्कों, तागों, रिक्शों की भीड़ चली जा रही थी। वे भी जैसे उनके पीछे खिचते चले जा रहे हों। पुल के पास आकर उनके थके पैरों ने जवाब दे दिया। वे उझक कर पुल की चाहरदिवारी पर बैठ गए।

उनके मन में कोई भाव न था। एक हल्की-हल्की सी थकान जिसका एक अर्थ था जो उनके हर रोंयें से पूछती थी, इतने ढीले क्यों हो ?

उन्होंने अपनी जेब से सलाई निकाली। अधजली बीड़ी को निकाल कर जलाया। वही कड़ुआ कश जो उन्हें थोड़ी देर के लिए भूलने को विवश कर रहा था। उस धुवें में झिड़की, घृणा, शिकायत के तमाम रंग मिलते जा रहे थे। वह क्या है, वह कौन सी चीज है जिसने उनके चारों ओर के लोगों को इतना हृदयहीन, इतना टेढ़ा बना दिया है।

बीड़ी के धुएँ की हर लट, हिप्नोटाइज़ करने वाले की अँगुलियों की तरह उनकी आँखों के सामने नाचने लगी। पर इस बार देवीसिंह की आँखें डबडबाई नहीं, उनमें एक चमक थी, उन्होंने बीड़ी फेंक दी। खड़े हुए। मुट्ठियाँ भिचीं, और एक ओर चले पड़े।

पोशाक की आत्मा

'डाक्टर आखिर बात क्या है ? कुछ कहो भी, तुम्हारे चेहरे पर इस तरह की परेशानी तो कभी नहीं देखी।' डाक्टर घबराया हुआ-सा मेरी ओर देखता रहा। उसने अपनी हथेलियों की घाहों को मिला कर अपने मुंह को दबोच लिया। उसका पूरा चेहरा अंगार की तरह लाल था। उसने एक गहरी सांस ली और फिर सहसा उसकी उंगलियां सिर के बालों को कुरदने लगीं। उसके मुंहपर अब भी जलती हुई लालिमा थी जो आंखों के पास की स्याही से मिलकर स्लेटी रंग की होने लगी थी। बड़ी देर तक वह वैसे ही हांफता रहा जैसे उसके हृदय में वेदनाओं का एक भार जम गया है जिसे वह हर सांस में फेंक कर अपने को राहत देना चाहता है।

वह मेरी ओर देख कर बोला 'मेरे पास से चले जाओ, मुझे आराम की जरूरत है। जाओ, जो कुछ बताना होगा, वह सुबह ही कह सकूंगा, मुझे छेड़ो मत।'

मैं बिना बोले उसके चेहरे की रेखाओं को देखता रहा जो उसके

चेहरे के छोटे से कनवैस को नाना रंगों में भर रही थीं। मैंने चुपचाप चला जाना ही ठीक समझा।

मुझे ठीक याद नहीं कि डाक्टर से मेरा परिचय कितना पुराना है। पिछले दो सालों की याद मुझे जरूर है, पर दो-एक साल की बिसात ही क्या। पर इधर थोड़े समय से डाक्टर के मन में मेरे लिए एक ऐसा अपनापा पैदा हो गया है कि वह जैसे मेरी जिंदगी का एक बहुत जरूरी हिस्सा बन गया है। मुझे ऐसा दिन शायद ही याद है जब डाक्टर मुझ से मिला न हो, कुछ बोला न हो। इतनी छोटी सी उम्र में डाक्टर ने अनुभवों का इतना बड़ा भांडार भर लिया है कि मैं उसे हैरान होकर देखा करता हूँ।

डाक्टर से पहली मुलाकात की भी एक कहानी है। शहर के 'कल्चरल क्लब' में 'पश्चिम और नैतिकता' पर एक लेक्चर होनेवाला था। विषय खुद बड़ा दिलचस्प था और उस पर बोलनेवाला एक ऐसा आदमी था जो अमेरिका से हाल में ही लौटा था और जिसके बारे में देशी-विदेशी अखबारों में काफी चर्चा थी। इसलिए ऐसे मौके से अपने को बरी रखना मुश्किल था। डाक्टर से यह पहली मुलाकात थी और मैं आपसे झूठ नहीं बोलूंगा, वहाँ उपस्थित लोगों में शायद ही कोई ऐसा था जो इस नवयुवक विद्वान् के धारा-प्रवाह भाषण में भीगा न हो, डूबा न हो। डाक्टर ने पश्चिमी नैतिकता को चीर फाड़ कर रख दिया और अपने भाषण को खत्म करते हुए कहा कि शरीर के प्रति जहाँ मोह नहीं, ममता नहीं, नैतिकता वहीं पनप सकती है; और यह सब कुछ हमारे देश में ही मुमकिन है जहाँ शरीर को आत्मा की पोशाक कहा गया है।

भाषण समाप्त हो गया। सब लोग धीरे-धीरे जाने लगे। मौसम खराब था। दिनभर हल्की पुरवैया के चलने के कारण बड़ी ऊमस रही, शाम को एक ठंडा झकोरा आया और आसमान बादलों से भर गया। हम सभा से निकल कर जब सड़क पर पहुँचे तब बूंदाबांदी शुरू हो गयी

थी और हवा के कारण ठंड बढ़ने लगी थी। खुशकिस्मती कहिये कि मेरा छाता मेरे पास मौजूद था जिसे हमेशा साथ साथ रखने के लिए मैं दोस्तों की फबतियाँ भी सुन चुका हूं। कहते ही डाक्टर मेरे छाते में हो लिया और हम चुपचाप चलते रहे।

जाड़े की ठंढ, बरसात और तिसपर तीखी हवा, इसलिए जब डाक्टर ने बगल के रेस्तरां में चाय लेने की बात कही तो अच्छा ही लगा।

चाय पीते हुए बिना किसी भूमिका के मैंने डाक्टर से पूछा, 'क्या आप गीता के उस पुराने सिद्धान्त पर इस साइंस के युग में भी विश्वास करते हैं?'

डाक्टर हलका मुस्कराया और मेरी ओर देखकर बोला, 'क्यों, इसमें गलती ही क्या है?

'गलती तो क्या है, पर मुझे लगता है, कहने और करने में काफी अन्तर है।'

मेरे व्यंग्य का उस पर कुछ असर नहीं हुआ, वह कुछ देर मेरे चेहरे पर आँखें गड़ा कर देखता रहा, फिर बोला, 'कहने और करने की एकता को देखने को आँख भी तो चाहिये।' और फिर पूरे रेस्तरां को कंपा देने वाली आवाज में ठहाका मार कर हँस पड़ा। मैं विस्फारित नेत्रों से ताकता रह गया। उसने बिल के पैसे दिये और फिर मिलने का वादा करके चला गया।

डाक्टर शहर के निचले हिस्से में, घनी आबादी से थोड़ा हट कर स्थित एक मकान में रहता था। मकान पुराने तर्ज का, दो मंजिला था जिसे किसी रईस ने साल में यदा-कदा मौज-मजलिस के लिए बनवा लिया था। सामने छोटी-सी फुलवारी थी जिसमें चैते के दो झाड़, गेंदे के दो-चार पौधे और गुड़हल के दो पेड़ खड़े थे। सब कुछ बेमरम्मत था और रखवाली के अभाव में चौपट हो रहा था। फुलवारी की ओर मुँह किये, छड़ों वाली एक खिड़की थी जिसकी कार्निश को बेगनबेलिया की

लतरें बुरी तरह जकड़ कर झूल रही थीं। इस खिड़की से मकान का निचला कमरा साफ नजर आता है जिसमें हर शाम डाक्टर के मित्रों की मजलिस जमती। वाहियात बातों पर सीरियस ढंग से विचार होते और गम्भीर बातों को ठहाके मार कर उड़ा दिया जाता। शाम घनी होती, एक-एक करके लोग खिसकते जाते, और अन्त में बच जाते दो, एक मैं और दूसरा डाक्टर। दीवालों पर शंकर, कांट, हीगेल आदि चिन्तकों की तसवीरें खामोश देखती रहतीं जिन्हें डाक्टर ने बड़े करीने से सजा रखा था। इस मौके पर डाक्टर मुझे देश-विदेश के भ्रमण का वृतान्त सुनाता, विदेशी विद्वानों के किस्से कहता, उनकी अजीबो गरीब आदतों और रुचियों का हाल कहता और उनकी बुद्धिमानी भरी बेवकूफी का जिक्र करता। गरज मैं डाक्टर से अच्छी तरह प्रभावित होता गया और सच कहिये तो उसकी इस जिन्दगी पर मुझे रश्क हो आया।

वह जाड़े की एक शाम थी। कोई पांच बजे होंगे। अभी से हल्के कुहासे के लिहाफ में चीजें घिरने लगीं थीं। मुझे आज डाक्टर के पास पहुँचने में कुछ देर हो गयी थी। अच्छा ही हुआ, क्योंकि मैंने सोचा कि अब तक चाण्डाल-चौकड़ी बिदा हो चुकी होगी और डाक्टर से अकेले में खुल कर बातें हो सकेंगी।

मैं डाक्टर के मकान की खिड़की के पास पहुँचा ही था कि ठिठक कर खड़ा हो गया। सामने के कमरे में डाक्टर खड़ा था और ठीक उसके पैरों के पास एक लड़की बैठी हुई सिसक रही थी। मैं थोड़ा और झुक कर देखने लगा। वह शीला ही थी, मुझे ठीक याद है। डाक्टर के घर में मैंने उसे कोई दो महीने पहले देखा था। डाक्टर ने ही बताया था कि वह उसके एक मित्र की बहन है। उसका भाई नये महाल के किसी अंग्रेजी स्कूल में टीचर है। शीला की बातचीत, रहन-सहन में कुछ विचित्र तरह की गरिमा थी जो किसी का मन खींचने के लिए काफी थी। इसके बाद इस लड़की को मैंने कई बार देखा। वह कई तरह के सवालों

पर बड़ी गम्भीरता से सोचती, रायें देती। वह डाक्टर से प्रभावित लगती थी और डाक्टर उसकी योग्यता का कायल था। पहले दिन की मुलाकात से ही वह मुझसे ऐसी मिली कि हर बात में मुझे 'भाईजी' कहने लगी। उसकी एक मुद्रा तो मुझे इतनी अच्छी लगती कि मैं देखता ही रह जाता। डाक्टर के तर्कों से परेशान होकर वह मेरी ओर हाथ जोड़ कर कहती, 'भाईजी, क्या आप की भी यही राय है?' मैं उसके सवाल पर कम ध्यान देता। उसके शब्दों से ज्यादा साफ उसके जुड़े हुए हाथों के नाखून थे जो नेल-पालिश से रंगे होते थे और गुलाब की पंखुड़ियों की तरह स्वच्छ मालूम होते थे। मैं इन नाखूनों की पवित्रता देख कर कुछ पसोपेश में पड़ जाता और लाचार कहना पड़ता, 'हां जी, तुम जो कहती हो वही ठीक है।' शीला को इस अवस्था में देख कर मैं चकित ही नहीं हुआ, बल्कि घबरा-सा गया।

'तुम मुझे नाहक परेशान करती हो' डाक्टर कह रहा था, 'जो हो नहीं सकता उसके लिए जिद क्यों।'

'लेकिन डाक्टर, मेरे बारे में भी तो सोचो' शीला ने ऊपर मुंह उठाया। उसके गाल आंसुओं से तर थे जिन पर बिजली के प्रकाश से एक चमकती रेखा उभर गयी थी।

डाक्टर जोर से हँसा, 'सोच लिया है मैंने, यह असम्भव है।'

'मैं नहीं जानती थी कि तुम इतने मक्कार हो।' उसकी हिचकी टूट रही थी।

'हुं, तो तुम समझती थीं कि मैं तुमसे प्रेम करता हूं इसलिए शादी कर लूंगा, वाह, इतनी सस्ती होती है यह शादी!'

शीला फूट कर रो पड़ी और उसने डाक्टर के पैर पकड़ लिये। मैं हतप्रभ-सा देखने लगा। मेरी बुद्धि कुण्ठित-सी हो गयी। सोचने लगा कि बात क्या है? क्या यह केवल प्रेम का झगड़ा ही है या और कुछ? केवल प्रेम के नाम पर कोई लड़की इतनी विह्वल क्यों होगी, अपने को

इतना जलील क्यों होने देगी ?'

तभी डाक्टर ने अपने पैर को झटका दिया, 'दूर हटो, इस तरह के रोने-गाने का मुझ पर कोई असर नहीं।'

शीला चुपचाप उठी। उसने इधर-उधर देखा भी नहीं और शीघ्रता से कमरे के बाहर चली गयी। दरवाजे के सामने मैंने उसे पुकारा भी; परन्तु उसने शायद सुना नहीं। मुझे सामने खड़ा देख न तो डाक्टर को रंचमात्र हिचक हुई, न अफसोस। उलटे निर्लज्ज की तरह बोला, 'आपने शायद यह नाटक देख लिया, चलिये अच्छा ही हुआ।'

मेरा मन घृणा से भर गया था। मैं डाक्टर की तरफ़ फूटी आँखों देखना भी बुरा समझता था। तभी वह बोला, 'औरतें भी क्या अहमक होती हैं। जरा सा 'लिफ्ट' दे दिया कि बस शादी करो।'

'यानी आप औरतों को अपने खिलवाड़ की चीज समझते हैं, और कुछ नहीं ?' मैंने मारे गुस्से से काँपते हुए पूछा।

'बेशक' डाक्टर ने कहा, 'इसे आप चाहें तो खिलवाड़ कहें, पर मैं तो इसे नारी-पुरुष का सीधा सम्बन्ध मानता हूं। इसमें शर्त क्या ? शादी तो एक बन्धन है। जानकर गले में डाला हुआ जुआ और ऐसी मूर्खता कम से कम मेरे जैसा आदमी शायद ही कभी करेगा।'

'और यह सीधा सम्बन्ध रोज-रोज बदलता भी रहता है ?'

'जी हाँ, रोज-रोज नहीं, क्षण-क्षण। सच कहूं तो मैं आदमी को मानता हूं आत्मा और औरत उसकी पोशाक है। जरा-सी गन्दी हुई पुरानी पड़ी, नापसन्द हुई कि बदलना जरूरी हो जाता है।'

मेरे सिर पर जैसे किसी ने हथौड़े की चोट की। भग्न की आवाज गूंजी। याद आया, डाक्टर ने एक बार इस आत्मा और पोशाक वाली बात पर कहा था कि इसे देखने की आँख चाहिये। तो यह है गीता के उस पुराने श्लोक का नया अर्थ ! मैं चुपचाप उसकी ओर देखता रहा। डाक्टर उठ कर मेरे पास आया और उसने मेरा हाथ पकड़ कर कहा

आप शायद बुरा मान गये। है भी बुरा मानने की चीज। पर आप से सच कहता हूं, यह सब मेरे लिए बिलकुल साधारण लगता है। मैं औरत को जितना देता हूं उससे उतना ही लेना भी चाहता हूं। फिर ऊपर से शर्तनामा कैसा ? मैंने पचीसों केस देखे हैं। ऐसी लड़कियाँ भी मिलती हैं, जो थोड़ा दिखावा करती हैं, रोती गाती हैं, शादी के लिए जिद करती हैं; परन्तु बहुतेरी ऐसी हैं जो इसी में खुश हैं। हाँ उनको जरूरत रुपये की पड़ सकती है, शादी की नहीं।' वह यह कहता ही गया, 'भला आप सोचिये, कितनी वाहियात है यह शादी की बात।'

मेरी आँखों के सामने तभी शीला की तस्वीर घूम गयी। लगा जैसे अपने लाल रँगे हुए नाखूनोंवाले हाथों को जोड़ कर वह पूछ रही है, 'क्यों भाई जी, क्या आपकी भी ऐसी ही राय है ?'

मेरा मन जैसे तिलमिला कर रह गया। मैंने पूछा, क्यों डाक्टर, क्या एस तरह के रोने-धोने का तुम्हारे ऊपर कभी कोई असर नहीं हुआ ?'

'मैं ठीक नहीं कह सकता कि ऐसा असर कभी हुआ, परन्तु एक घटना ऐसी अवश्य याद है जिसने कुछ क्षणों के लिए मुझे विक्षिप्त कर दिया था। वह भी लगता है, शायद मोह के कारण ही, क्योंकि किसी भी शर्त पर मुझे उस बन्धन का टूटना पसन्द न था। कुछ एक क्षणों के लिए मैं विचलित तो अवश्य हुआ, परन्तु सब कुछ मिलाकर उसे असर नहीं ही कहना चाहिये।'

'कौन सी घटना ?' मैंने पूछा,

'देवीघाट के चर्च को तो आपने देखा ही है।' डाक्टर कहने लगा 'अमेरिका जाने के पहले मैं अक्सर वहाँ जाया करता था। वहां एक बुड्ढा पादरी था फादर फ्रांसिस। वह मुझे लड़के से भी ज्यादा मानता-जानता था और सच पूछिये तो उसी की मदद से मैं अमेरिका जा सका। मैं प्रति रविवार को बिना नागा प्रार्थना में शामिल होता था। वहीं मेरी

जान-पहचान हुई उस लड़की से। वह पतली दुबली ऐंग्लो-इण्डियन लड़की थी सुनहले बालों वाली, नाम था जेनी। वह मुझे फादर फ्रांसिस से बात करते देखती तो 'पास आकर खड़ी हो जाती और बड़े इत्मीनान से कुशल-समाचार पूछती। फ्रांसिस उससे मेरी तारीफ करता तो वह धीरे से बुदबुदाती 'कुमारी मरियम तुम्हें तन्दुरुस्ती दें।'

एक दिन वह प्रार्थना में थोड़ी देर से आयी और देखने में बड़ी उदास थी। मैंने पूछा तो बोली, 'सिस्टर बहुत बीमार है।'

मैं साथ-साथ उसके घर गया। उसकी बीमार बहन की हालत देखी और कुछ दवा दारू का इन्तजाम भी कर दिया। वह अच्छी हो गयी। तब से मैं उनके घरका एक सदस्य बन गया। वह प्रायः मुझे घर चलने को कहती। न जाने पर 'बहिन बुरा मानेगी' की धमकी देती और प्रार्थना खत्म होने पर मेरे साथ चर्च के पिछवाड़े के बगीचे में बैठ कर युक्लिप्टस की पत्तियां सूंघती रहती और चांद उगने पर दो एक अंग्रेजी कविताओं की पंक्तियां गुनगुनाती और पूछती, 'क्यों डाक्टर तुम्हें डान्स आता है?'

मैं चुप रह जाता तो मेरे हाथ को पकड़ कर कहती, 'क्यों डाक्टर, तुम्हें चांद अच्छा लगता है?'

मैं उसके भोले मुह को देखता ही रह जाता। उसकी गोल ठुड्डी को उठा कर कहता 'उहुँ, मुझे तो जेनी चांद से अच्छा तुम्हारा मुह ही लगता है।'

वह खिलखिला कर हंस पड़ती और कहती, 'यू नाटी ब्वाय।'

मैं उसकी मासूमियत से बुरी तरह खिंचता गया। उसकी बहन एक दूसरे तरह की लड़की थी। वह दुनिया को समझती थी, ठोकर खाये हुए आदमी की तरह आंख खोल कर चलना उसे पसन्द था। वह हमारे इतने मेल-जोल को पसन्द नहीं करती थी, पर लाचार थी क्योंकि गाहे-बेगाहे उसे मेरी मदद की जरूरत थी।

पर जैसा मैंने कहा, औरतें प्रायः अहमक होती हैं, एक दिन जेनी मेरे पास आयी। रोज की तरह ही खुश थी। वह बालों को सफेद रिबन से बांधकर पीठ पर लटकाये थी और बड़ी भली लगती थी।

'डाक्टर' उसने हंसते हुए कहा, 'इस तरह कब तक चलेगा ?'

'किस तरह ?'

'सिस्टर कहती हैं कि तुम मुझसे शादी कर लो।'

'शादी' मैं ठहाका मार कर हँस पड़ा, 'तुम ईसाई मैं हिंदू, भला शादी कैसे हो सकती है।'

'यह तो तुम पहले भी जानते थे ?' उसने जरा तेज होकर कहा।

उसका चेहरा गुस्से में भी बड़ा अच्छा लगता था। मैं उसे देख कर मुस्करा पड़ा।

'तुम मजाक कर रहे थे न' वह खिलखिला कर हँस पड़ी 'यू नाटी ब्वाय। मैंने सिस्टर से कहा कि डाक्टर औरों जैसा नहीं है। वह बहुत भला आदमी है, पर सिस्टर ने एक न मानी, इसी से मुझे कहना पड़ा' उनके चेहरे पर अपनत्व की रोशनी थी।

'पर मैं तो मजाक नहीं करता हूं जेनी' मैंने अनासक्त भाव से कहा, 'शादी की बात व्यर्थ है।'

वह मेरे चेहरे को देख कर समझ गयी कि यह मजाक नहीं है। उसने कुछ कहा नहीं। मेरी ओर एकटक देखती रही फिर बोली, 'खैर, कुमारी मरियम तुम्हें तन्दुरुस्ती दे' और वह तीर की तरह कमरे के बाहर हो गयी ?

मैं चुपचाप उसे देखता रह गया।

और जो डाक्टर इस तरह अपनी क्रूरता का जिक्र कर सकता है जिसके लिए दुनिया में दर्द नाम की कोई वस्तु नहीं, जो संसार को अपने स्वार्थ के नाम पर कुरबान करने में जरा भी अफसोस नहीं करता उसके जीवन में ऐसी कौन-सी घटना हो गयी जिसने उसे इतना मथ दिया है,

उसके पूरे अस्तित्व को झकझोर दिया है। मेरी आँखों के सामने डाक्टर का अंगार की तरह लाल चेहरा नाच उठा जिसे वह अपनी अंगुलियों से पूरी तरह दबोचे जा रहा था।

प्रातःकाल मैं सीधे डाक्टर के मकान पर पहुँचा। देखा, वह कहीं जाने को तैयार था। मुझे देखते ही बोला, 'आओ, आओ, तुम्हारी ही इन्तजार थी।'

मेरे बैठ जाने पर डाक्टर बोला, 'तुम कुसुम को तो जानते ही हो?'

'क्यों नहीं' मैंने कहा। कुसुम डाक्टर की नयी 'चिड़िया' का नाम था।

'वह कल आयी थी' डाक्टर ने कहा।

'रोने-गाने लगी शायद। क्योंकि औरतें प्रायः अहमक होती ही हैं।' मैंने व्यंग्य से डाक्टर की ओर देखा।

'हां कुछ रोने-रोने हुई तो जरूर पर रोई नहीं। मैंने जब शादी से साफ इनकार किया तो बोली, 'पर डाक्टर तुम्हें यह शादी करनी ही होगी।'

'क्यों?'

'क्योंकि इसके अलावा मेरे लिए कोई रास्ता नहीं।'

'न सही, पर मुझे क्या?'

'क्योंकि तुम्हारी इज्जत धूल में मिल जायगी।'

'कैसे?'

उसने बटुये से निकाल कर एक फोटो मेरी ओर बढ़ा दिया। मैं तो उसे देख कर धक्क से हो गया। वह हम दोनों का फोटो था। कुसुम मेरे आलिंगन में बँधी थी।

'तुम्हें शादी करनी ही होगी क्योंकि वह पहले ही हो चुकी है।' वह बोली, 'वरना मैं इस फोटो के साथ तुम्हारी मक्कारी के सारे कच्चे चिट्ठे खोलने को मजबूर हूँ।'

मैंने फोटो को फाड़ दिया। वह खिलखिला [illegible]ी, बोली, 'मेरे पास इसका निगेटिव रखा है।'

'लेकिन क्या तुम ऐसा कर सकोगी, यह तुम्हारी इज्जत का भी तो सवाल है।'

'डाक्टर यही औरत की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसका फायदा पुरुष उठाते रहे हैं। गोया औरत की इज्जत पुरुष से ज्यादा महत्व की है। जो लड़की इतनी बेहया हो कि छाती पर पत्थर रख कर इस अवस्था का फोटो खिचवाये, सो भी दूसरे से नहीं, अपने बाप से, उसके लिए इज्जत का क्या सवाल। तुम्हारी मक्कारी का पर्दाफाश करने में मेरी इज्जत ही गयी तो क्या हुआ। आज तक तुम औरत को अपनी आत्मा की पोशाक समझते थे न, आज पोशाक की आत्मा भी देखो।'

डाक्टर के चेहरे पर अब भी भय छाया था। मैंने पूछा, अब क्या करोगे?'

'करूँगा क्या लाचारी है, शादी करनी ही होगी।'

चितकबरी

'जमाना सदा एक-सा नहीं रहता' रोपन साहु ने दुलाही को समझाते हुए कहा। दुलाही चालीस तो लगा ही रही थी। यों गांव के सभी उसे दुलाही ही कहते। सास ने बड़े प्यार से बहू को दुलाही का अविनाशी नाम प्रदान किया था, वह उसके घर की लक्ष्मी जो थी। पर उस दिन लदनी के बैल मर जाने पर बूढ़ी सहुआइन कुलच्छनी कहने से भी नहीं चुकी थीं। अपने गालों को छूते हुए पीतल के नथ को घुमाकर दुलाही बोली, 'सुअर न पाल लो। दुनिया का खजाना पा जाओगे। धरम करम सब उठ गया। बुढ़ऊ जीते होते तो कुंए में कूदकर जान दे देते। 'बाप रे, बैस-बाभन के घर में मैंने बकरी नहीं सुनी। सांस निकल जायेगी। जानते भी हो, जहाँ बकरी रहती है वहां देवता नहीं रहते।'

'अब मूरख से कौन लगे' रोपन साहु माथा छू कर बोले, 'बकरी पालने से जैसे जात निकल जायगी।'

'जात में क्या रही गया है' दुलाही का तीखा स्वर भन्नाया, 'लड़के को कहा मुनीबी पढ़ाओ, भेजा पढ़ने को रंगरेजी। सात जनम किसी ने

घर में रंगरेजी नहीं पढ़ी ; सपूत निकले अकेले । जूता पेन्हे खायेंगे, भीतर बाहर सब भरभण्ड ।'

दुलाही आगे भी कुछ कहना ही चाहती थी कि हाथ में झोला लटकाये, मदरसे से आता हुआ जगेश्वर दिखाई पड़ा । रोपन साहु झिझके, 'अरे कोयला गीला था तो बगल की महरी से दो चार उपले ही मांग लिया होता । पहाड़ ऐसा दिन बिता कर लड़का घर आये तो फिर वही ठप । पढ़ेगा क्या खाक ।' जगेश्वर ने बाप की बात सुनी । चुपचाप घर के भीतर आया । पीछे से झिझकती दुलाही पहुँची । दुकान के पटवन से गुड़ की मटकी में हाथ डाल कर छोटी भेली निकाली और लड़के को थमाते हुए बोली, 'पानी पी लो बच्चन, आज कोयला गीला था बेटा । कल से रोज टेम पर बनाया करूँगी । जगेश्वर ने कुछ कहा नहीं । पानी पीकर चुपके बाहर हो गया ।

'जरा चीलम लेती आना दुलाही' रोपन साहु बोले । मन में नाना तरह की बातें करवटें ले रही थीं । रोपन साहु के बाप कोई गरीब नहीं थे । गुड़ की तिलौरियां, लाई के ढुण्ढे और कुछ बतासे एक बड़ी सी ओड़ी में लेकर वे गांव-गांव घुमकर भवँरी करते । कभी किसी ठाकुर का अनाज बिकता, उसे बाजार के महाजन की कोठी तक पहुंचाना होता । रोपन के बाप अपने बैल पर बोरे लाद-लाद कर पहुंचाया करते । इस तरह काम चलता जाता । घर में कुल तीन मुर्गी, बड़े मजे से कट जाता । लड़का बड़ा हुआ । शादी की बात हुई । घर में बहू आई । सास फूली न समाई । एक महीना भी नहीं बीता कि बूढ़े साहु मर गये । बूढ़ी सहुआइन को बड़ा दुख हुआ । रो धोकर बेटे- पतोहू पर संतोष किया । लदनी का बैल बेटे को सौंप सहुआइन ने उसे बाप का उत्तराधिकारी ठहराया । काम सब वही-घर में फिर तीन के तीन । दूसरे महीने लदनी का बैल मरा । सहुआइन ढाढ़ मार कर रो पड़ी जैसे पति की मृत्य आज ही हुई । बहू को उन्होंने कुलच्छनी कहा और बेटे को अभागा ।

दुलाही आई। रोपन साहु ने उसके हाथ से हुक्का ले लिया। बड़े प्यार से निगाली को मुह से टिकाये कुछ सोचते रहे। लदनी वाले बैल के मरते ही जैसे घर पर पहाड़ टूटा। दुलाही को बच्चा हुआ। सहुआइन गांव भर दौड़ दौड़ कर पड़ोसिनों के पैर लगती रहीं। और इधर रोपन साहु मारे क्रोध और चिढ़ के बूढे खूसट बरम्हा की कारीगरी को बेहूदा और चौपट कह-कह कर नाक भौं सिकोड़ते रहे। हलुवे के लिये चीनी-आँटा, जच्चा-बच्चा के लिये तेल-तासन और प्रेम से बेहाल शुभचिन्तकों के लिये कुछ मुंह मीठा का सामान, रोपन साहु घबड़ा-से गये। सहुआइन मुंह में आंचल का खूंट दबाये गई ठकुराइन के पास। बूढ़ी ठकुराइन थीं बड़ी चर्राता। कोई दूसरा मौका होता तो सहुआइन भी नहीं दबतीं। उलटे शीतला के प्रकोप और हवन के चन्दे पर होने वाले विवाद में उखाड़-पखाड़ की नौबत आ जाती। पर आज बड़ी चुप थीं। मन में नातीं-जन्म का अभिमान था ऊपर से बड़ी नर्मी। ठकुराइन के सिकुड़े हुए पैरों को आंचल से छू-छूकर सहुआइन ने सर लगाया। ठकुराइन बिल्कुल चुप।

पास से महरी बोली, 'सुनतीं हैं मलकिन, रोपन साहु को बेटवा हुआ है।'

'सुना रे महरी' ठकुराइन ठसक कर बोलीं, 'जैसे भगवान ने दिया वैसे जिलाए।' पास से महरी टलती नहीं। सहुआइन अपने दिल की बात कह न पातीं। आखिर महरी हटी पर बाहरी निकसार के कोने में दुबक कर खड़ी हो गई।

'मालकिन' सहुआइन ने अपनी बात में जैसे पूरा गुड़ घोलकर कहा, 'आप ही की तो सरन में आई हूं। सरकार को नाती हुआ है कुछ किरपा हो जाय तो बहू का मुंह भी मीठा हो जाय।'

महरी ने गाँव में हल्ला कर दिया था। किसी कदर छट्ठी-बरही का सामान हुआ। लड़के की बरही के रोज नाच-गा कर जैसे खुशियाँ मनाते-मनाते बूढ़ी सहुआइन बड़ी थक गई थीं सो सदा के लिए आराम की नींद

सो रहीं। घर के पुराने बरतन-भाड़े बेच-बाचकर रोपन साहु ने प्रेतात्मा से छुट्टी ली, बरस भी नहीं लगा कि दुलाहीं ने नये जीव के आने की सूचना दी। और आज थे रोपन साहु के घर में सब आधे दरजन। पहले के दूने, यों काम-धाम कुछ नहीं।

तभी रोपन साहु की आँखों में एक छाया नाच उठी। लम्बे लम्बे हाथ-हाथ भर के कान। हरिनों सी सींग। भोला चमार की चितकबरी हर साल दो-दो बार बच्चे देतीं है। यह भी एक दो नहीं, पूरे तीन-तीन। बच्चे भी पूरे बगड़े। लम्बे-लम्बे वैजयन्ती के पत्ते से कान और एक साल में बढ़ कर जैसे माँ को भी डांक जायेंगे। भोला चमार कहता है कि उसकी चितकबरी बकरी नहीं है, वह पूरी कामधेनु है। उसने उसे क्या नहीं दिया, रुपया-पैसा, बेटा-नाती।

'सच ही तो कहता है' रोपन साहु ने धीरे से एक कश खींचा। निधूम हुक्का गुड़गुड़ा कर रह गया। पर साहु ने हटाया नहीं। रोपन साहु हिसाब लगा रहे थे। भोला ठीक उन्हीं की उम्र का है। और भोला के घर ग्यारह उसके बेटे, बड़े तीन बेटों के सात, सब मिलकर अठारह तो यही हुए, चार औरतें ऊपर से, सब मिलाकर दो कम पूरे दो दर्जन। कभी भूखे नहीं मरे। काम न धाम आखिर सब आता कहाँ से ?

बार-बार सोचने पर भी रोपन साहु की गंजीं खोपड़ी में कुड़बुड़ाती बुद्धि ने कोई जवाब नहीं दिया। हाँ उनकी आँखों के सामने बरबस एक छाया नाच उठती। वही हाथ-हाथ भर के लम्बे कान, हरिनों सी सींग। नीचे गाय सा थन। दो सेर से कम दूध क्या देती होगी। बकरी बूढ़ी जरूर है। भोला चमार कहता था अभी क्या, अभी तो साहु इसका आठवाँ बियान है। पर रोपन साहु के जोड़ से यह बात कयास में नहीं आती। आठ क्या होंगें होंगें पूरे बारह। चौथे लड़के के जनम से बकरी देख रहे हैं। भोला भी तो बूढ़ी ही लाया था। जैसी तब थी वैसी अब। कहता है अभी बारह बियान और चलेगी। बारह के छत्तीस बगड़े।

फिर उनके और उनके। रोपन साहु ने माथा पकड़ लिया। देता भी है कितनी सस्ती। इतना सुन्दर बगड़ा पचास से कम में क्या आयेगा। भोला तीस माँगता है। ये भी सब साथ देने नहीं। दस आज देने हैं बाकी हाथ खुलने पर।

तभी रोपन साहु को दुलाही खड़ी मालूम हुई। 'जानते हो जहाँ बकरी रहती है वहाँ देवता नहीं रहते।'

'यह सब बेवकूफी है' रोपन साहु बड़बड़ाये, 'जहाँ भूख से लोग मरते हैं सच पूछो तो देवता वहाँ नहीं रहते। देवता उसी के पास रहते हैं जहाँ पैसा है। बकरी के आते ही जहाँ पैसा हुआ, तीन चार इतवार को हवन कराया कि पूरा छज्जा देवताओं से भर जायगा। दुलाही मूरख है। तुलसी बाबा ने बात बड़े पते की कही। आखिर थे भी पहुँचे हुए महात्मा। बिना हाथ उठाये औरत की जात ठीक नहीं रहती।' साहु का पौरुष जागा, 'होती है वह कौन बीच में बोलने वाली। घर मेरा, मैं मालिक।'

रोपन साहु ने ठीक किया कि वे कल भोला की चितकबरी को अपने चबूतरे पर बाँध के दम लेंगे। सामने आंख उठाई तो देखा दुलाही खड़ी है। साहु जी सिटपिटाये। दुलाही पास आकर बोली, 'क्या सोच रहे हो।' रोपन साहु ने सोचा बला सिर पड़ेगी पर चितकबरी को न लाना भी तो ठीक नहीं, बोले 'सोचता हूं दुलाही, बकरी आ जाने से भाग खुल जायगा। जानती हो वह अभी बारह बियान और बच्चा देगी। एक बार में तीन फिर बारह में छत्तीस। और फिर बच्चों के बच्चे—पूरा रेवड़।

'चितकबरी बकरी नहीं है जग्गू की मां' रोपन साहु ने सांस लेकर कहा, 'देवता है, देवता। जरूर पिछले जनम में रिन खाया अब उसे भर रही है। कुछ भोला का, बाकी मेरा। आ जायेगी करम खुल जायेगा। भोला को नहीं देखती। घर में पूरे दो कम दो दर्जन आदमी। काम न धाम, खुशी खुशी खेये जा रहे हैं। यह सब उसी की बदौलत है दुलाही। भला तुम्हीं सोचो उस चमार के घर कौन कुबेर का खजाना गड़ा है।'

'पर हाथ भी तो खाली है रुपये दोगे कहां से' दुलाही बोली, 'यों भोला दरवाजे पर बांध भी तो नहीं देगा।'

'इसकी फिकर न करो' साहु ने इतमीनान से कहा, 'पचास का बगड़ा तीस में उठ रहा है। दस आज देने हैं बाकी हाथ में आने पर।'

'दस की बात तो बड़े धड़ल्ले से करते हो। हाथ में पाई तक नहीं। आखिर दस भी तो सुनूं।' रोपन साहु चकराये 'हाँ यह तो तुमने पते की बात कही।' धीरे से बड़बड़ाये, 'अब हाथ से गई।'

फिर जरा थम कर बोले, 'एक बात कहूं जग्गू की मां। उनका चेहरा लोभी लड़के सा फैल गया, 'तुम बुरा न मानो तो एक बात कहूं।'

'क्या है कहो भी?'

'भात वाली बढ़ुली बेच दो।'

दुलाही चर्रायी, 'तुम्हें शरम तो नहीं लगती। मुद्दत के बाद बढ़ुली आई, तो उसे बेच दो। और फिर उसका मिलेगा ही क्या? मुश्किल से पांच-सात मिलेंगे। तुम तो जैसे झगड़ा के लिए तैयार बैठे हो।'

रोपन साहु के शब्दों में पूरा ममत्व भरा था, 'अरे भाई, छह महीने और सही। जैसे दो तीन साल बिना बढ़ुली के चला वैसे पांच छह महीने और। पहली बियान के बाद ही तुम्हारा घर बरतन से भर दूंगा।'

दुलाही पिघली, पर आखिर बढ़ुली पूरी पड़ती भी तो नहीं। रोपन ने दांत निकाले, 'जग्गू की मां पांच छह महीने की बात है। मान लो एक ही लोटे से पानी पी लेंगे।

× × ×

बढ़ुली-लोटा बेच कर रोपन साहु ने दरवाजे पर बकरी बांध ली। लम्बी-लम्बी सींग लम्बे-लम्बे कान। उनका छोटा लड़का पास जाने को ललच रहा था। साहु बिगड़े, 'अबे देखता नहीं बगड़े के सींग। उठा कर फेंके तो फिर हाथ पैर सीधे न बचें।' घर से दुलाही निकली, 'बकरी क्या हवा पी के जीती है? इसे बाहर चराओ तो काम देगी। यह गाय

नहीं है, जो खूंटे पर बंधी पड़ी रहेगी। देखते नहीं दो दिन में पेट सट गया। बूढ़ी बकरी और चारा गायब।'

रोपन साहु ने रस्सी खोली। झाड़ी-झाड़ी चरा कर शाम को लौटे कुछ दिन बीते। अब तो बकरी को यों भी छोड़ देते। अकेले छोड़ कर सिवान में हांक आते। बकरी चली जाती। शाम को खूंटे पर हाजिर। आते ही पहुँचते। कान छूते। सींग छूते। पीठ सहलाते। मन में बुदबुदाते, सचमुच देवता है।

घर में सब लोग बकरी के पीछे जान देते। छोटा लड़का थाली से रोटी उठा कर नादी में डाल जाता। दुलाही धोवन उसी को पिलाती। रोपन साहु को तो रात के सपने में भी जैसे चितकबरी ही दीखती।

अगहन का दिन था। रोपन साहु अपने दर्वाजे पर बैठे, धूप में हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। इतने में चितकबरी का कान उमेठे ठाकुर का चरवाहा आया, 'सुनते हो साह। यह अपनी कामधेना खूंटे पर बांधो या हाथ में पगही लिये झाड़ी-झाड़ी घूमो। आज कहे जा रहा हूँ। कल से खेत में दिखी तो पैर तोड़ दूंगा।' साहु का खून आंखों में उतर आया। बकरी का कान दुख रहा था। वह जोर से चिल्ला रही थी।

'अच्छा भइया, छोड़ दो अब न जायेगी।'

'जायेगी तो समझना' चरवाहा चला गया।

रोपन साहु बकरी के पास आये। कान सहलाते और बार-बार कहते, 'नीच है मां, नीच है, क्षमा कर देना। वह तुम्हारी कदर क्या जाने।'

बकरी गाभिन थी। सावन में पूरे छह महीने लगते थे। रोपन साहु के घर आने वाले अवसर की तैयारी हो रही थी। दोनों छोटे लड़के आपस में लड़ते। चुन्नू कहता 'काला बगड़ा मेरा होगा।' वह एक काले तागे में लाल फूल बांध कर रखे था बगड़े की गरदन में बांधने को। मुन्नू कहता 'सफेद वाला मेरा।' पूरे एक महीने की देर थी। आषाढ़ में पानी खूब बरसा। जल्दी ही घासें निकल आईं। यों धान बकरी खाती नहीं।

किसी के खेत में पड़ने का डर था नहीं। बकरी को साहु बाहर छोड़ आते, शाम को चर-खाकर चली आती। आज मुन्नू ने अपनी रोटी बकरी को डाली। उसने सूंघा तक नहीं। निराश घर दौड़ा, 'मां बकरी खाती नहीं।'

चुन्नू बोला, 'चर के आई है, खायेगी तेरे पेट में?' दुलाही हंसी रोपन साहु भी हंस पड़े। रात भर बकरी चिल्लाती रही। रोपन साहु को नींद नहीं आई। सुबह देखा बकरी गुम सुम बैठी है। न मुंह हिलाती न पागर करती। बड़े घबड़ाये। दौड़-धूपकर भोला को बुला लाए। देख-दाख कर भोला बोला, 'साहु बकरी को यों ही छोड़ देते थे क्या?'

'हां-हां भैया, किसी का कुछ नहीं छूती। देवता है। सुबह छोड़ो शाम को हाजिर।' भोला मुंह बनाकर बोला, 'इसने बरसाती घासें खाली हैं। भड़ुभांड़ की जड़ पोसकर पिलाओ आगे मालिक है।'

रात भर जाग-जाग कर रोपन साहु भड़भांड़ की जड़ पीसकर पिलाते रहे। पूरा घर जाग कर सेवा करता रहा। मुन्नू सींग छूता। चुन्नू कान। दुलाही बगल में बैठकर देवी-देवता मनाती।

उधर घूरे पर टांग उठाकर इस्माइल के मुर्गे ने सबेरा होने की सूचना दी, इधर रोपन साहु के घर अंधेरा छा गया।

× × ×

चावल की रोटी लेकर मुन्नू बोला, 'अम्मा आज भी भात नहीं।' खाले बेटा, कल बनाऊंगी।'

मुन्नू ने 'हीं हीं' कर ठुनकना शुरू किया। दुलाही ने एक चटाका जड़ दिया। थाली का खाना छोड़ रोपन साहु बाहर आये। चबूतरे पर कोने में चितकबरी का खूंटा सूना पड़ा था। रोपन साहु वहीं बैठकर रोते रहे। पता नहीं वे कब तक बैठे रहे...।

आज फिर इस्माइल के मुर्गे ने बांग लगाई, पर रोपन का सबेरा न हुआ।

※

उसकी भी चिट्ठी आई थी

उसने फिर खिड़की से झांका; पर इस बार भी जब वह आता हुआ दिखाई न पड़ा तो वह कुड़बुड़ाई 'बड़े निकम्मे होते हैं ये लोग।' उसने हाथ का उपन्यास बिस्तर पर फेंका (जिसका प्रथम पृष्ठ उलट कर मुड़ गया, जिससे नायिका की रंगीन तसवीर बुरी तरह टूट रही थी, कमर के पास जिसे चित्रकार ने औसत से ज्यादा पतली बना दिया था) और वह झुँझला कर उठी। धम्-धम् सीढ़ियाँ पीटती छत पर पहुँची और झुककर गली की ओर देखा। अभी केवल तीन ही बजे थे पर फागुन की शुष्क साँझ जैसे मंजरियों की सुगंध के भार से गरुआई झुकने लगी थी। प्रिंसिपल सूद की लड़की प्रीता अपनी छत पर वैसे ही बेचैनी से टहल रही थी। नीचे गली प्रायः सुनसान, लोहे की चादर से ढकी नागिन की तरह रेंगती चली जा रही थी।

'इन्हें जरा भी वक्त-नावक्त का खयाल नहीं। वह फिर बड़बड़ाई और उसने छत पर लटकती सहजन की एक डाल को पकड़ कर झकझोर दिया। ढेर से फूल बिखर कर छत के शिरे पर सफेद-पीले रंगों वाली

कालीन से फैल गये। एक झुंड भौंरे उसकी इस अनुचित हरकत पर भुन-भुनाते उड़ चले।

उसी समय गली के मोड़ के साथ वह भी मुड़ा। गजब होती है इनकी ड्रेस भी, जैसे सरकार डाकियों की ड्रेस पर खास ध्यान देती है। मटमैली खाकी की चुस्त पतलून जो औसत से ज्यादा साँकरी होने के कारण घुटने के ऊपर के भाग को काफी कस देती है और इसी वजह से थोड़ी सिकुड़ कर उटुंग-सी लगती है। निचले भाग से लचीली किन्तु मजबूत टाँगें साफ उभड़ कर दिखाई पड़ती हैं। ऊपर क्रीजहीन मटमैला, पीतल की गोल-गोल उभरी हुई बटनों वाला कोट, और सिर पर उसी मटमैली खाकी का मुरेठा। सब कुछ मिला कर जैसे डाकिए की पोशाक दूर से ही उसके व्यक्तित्व की घोषणा करती है।

छत से उतर कर प्रीता सूद डाकिए के पहुँचने के पहले दरवाजे पर पहुँची।

'क्यों मुंशीजी, मालूम है कितने बज रहे हैं। दोपहर की डाक चार में लाते हैं और जरा-सी कम्प्लेन हो तो गिड़गिड़ाने लगें।'

विमल सिंह ने कुछ कहा नहीं। चुपचाप एक हरा-सा लिफाफा बढ़ाते हुए चल पड़ा! चलती बार उसने एक नजर प्रिंसिपल सूद के उस बँगले को देखा, जिसके फाटक को 'ग्लोरी ऑव गार्डन' की लाल फूलों वाली लता बुरी तरह कस कर मुस्करा रही थी। उसने एक नजर अपने हाथ की चिट्ठी के ढेर पर डाली और खट्-खट् चमरौंधे जूते की नाल बजाता चल पड़ा। मन में प्रीता को कुछ कोसा भी; पर क्या कहे। बड़े आदमी की लड़की है। जैसे उसे कोई काम नहीं। एक लिफाफे के लिए हाथ पर हाथ धरे दिन भर बैठी रहती है। आज दोपहर को पोस्टमास्टर ने जब डाक खोली, तो उसने एक लिफाफा विमल की ओर बढ़ाया, 'विमल ठाकुर, अरे भाई यह लो, तुम्हारी बीबी की चिट्ठी है।'

विमल ने चिट्ठी ली तो घनी मुंछों में मुस्कराता हुआ पोस्टमास्टर

बोला, 'ये चिट्ठियाँ उठा लो सारी, एकाध मनीआर्डर भी होगा। हाँ, सुनते हो, अरे, रख लो भई, जेब में, पढ़ लेना। बीबी की चिट्ठी इतनी जल्दी में नहीं पढ़ा करते।'

विमल ने बंद लिफाफा ज्यों का त्यों पाकेट में रख लिया। चिट्ठियों को उठाया और चल पड़ा। इतनी चिट्ठियाँ, शाम तो यों ही हो जाती है।

अब भी चिट्ठी उसके दिल की धड़कन के पास, उसके मटमैले कोट के पाकेट में पड़ी है। पड़ी रहे। वह करे भी क्या। उसमें लिखा ही क्या होगा! बच्चों, छोटे भाई, और माँ को खिलाने-पिलाने का भार ढोने वाली औरत ने बर्तनों की रगड़, चूल्हे की कालिख और जाँत की मूठ के घिसे हाथों से टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखा होगा कि होली आ रही है, कुछ रुपये भेजो, इसकी या उसकी जरूरत है आदि, आदि। वह चुपचाप चलता रहा।

अभी विमल को शादी हुए कितने दिन हुए। माना, उसकी बीबी इतनी पढ़ी-लिखी नहीं है, इसी से शायद उसमें वह कुड़बुड़ाहट भी नहीं है और न तो चिट्ठियों के लिए वह बेसब्री ही है। इसी से शायद उसमें यह आदत भी नहीं कि 'ओटो दिल बहार' की सुगंध की लपटें उड़ाने वाले किसी एक लिफाफे के आ जाने से, पैर से लेकर चोटी तक के शरीर को सिकोड़ कर आँखों में समेट ले और दिल की धड़कन की हर आवाज पर पता बाँचा करे। फिर भी मेहनत और कशमकश के बावजूद उसके शरीर में भी एक दिल है, जिसकी याद कर विमल थोड़ी देर के लिये मायूस-सा हो गया।

'क्या है मुंशी जी।'

विमल चौंका। आगे अपनी दूकान के सामने लकड़ी के एक चौकोर तख्ते पर सेठ निहोरलाल बैठे हैं। तेल लगे चीकट बोरे पर उनका लंबा शरीर, जिसमें पेट को छोड़कर बाकी किसी भी हिस्से पर माँस नहीं, पतले-पतले हाथ-पैर, गोया मिट्टी के लौंदे में बाँस के टोटे गाड़े गए हों। उनकी ऊपरी तोंद पर एक नौकर तेल की मालिश कर रहा था।

'क्या है मुंशी जी !'

'वी० पी० है।'

'वी० पी०, कहाँ से ? कुछ लिखा है ?' सेठ जी ने उत्सुकता से पूछा।

'जी हाँ, ढाका आयुर्वेद फार्मेसी, शायद कोई दवा है।'

सेठ का चेहरा खिल उठा, 'ओ, अरे मुनीम जी, जरा वी० पी० छुड़ाना भई, थोड़ा बैठ लीजिए मुन्शी जी !' और फिर अपने दोनों जबड़ों को सिकोड़ कर, होंठ को गोला कर सेठ ने कहा, 'वाह दवा है कि संजीवनी। सच मानिए मुन्शी जी, ऐसी जादू-सा असर करने वाली दवा मैंने तमाम उम्र नहीं देखी।'

एक बार फिर मुनीम जी को जल्दी करने की आज्ञा देकर सेठ बोले, 'आप शायद जानते न हों। इसको महर्षि च्यवन ने बनाया था। एक बार उन पर भी बड़ी आफत आई। घर में जवान औरत, बेचारे खुद बुड्ढे। कैसे पटती !' दाँत फैला कर सेठ जी हँसे, 'बस जादू का असर था उन लोगों के हाथों में। जड़ी मिला कर दवा जो बनाई तो सारी बुढ़ापा छू मंतर ! पोपले मुँह वाले ऋषि पूरे बीस-बाइस के छैले हो गए, जैसे मसें भींग रही हों।'

तबतक मुनीम जी आ गए और विमल सिंह ने रुपये गिन कर वी० पी० दी। सेठ जी हँसे और उन्होंने एक उड़ती नजर मुनीम के हाथ में रखी वी० पी० पर डाली और दूसरी अपनी तोंद पर, जिसे वे सदा अपनी जवानी का दुश्मन समझते रहे। पूरे चार महीने उन्हें च्यवनप्राश खाते हो गए; पर यह शरीर है कि कम्बख्त बंजर का खूँटा, न हरा होता है न मोटा।

'सेठ जी, इसके खाने से कुछ फायदा भी होता है ?' विमल ने उठते हुए पूछा। सेठ मुस्कराए, 'क्यों नहीं, क्यों नहीं।' उन्होंने इस बार अपनी तोंद को थोड़ी खुशी से देखा; पर सहसा उन्हें सेठानी की लाल-लाल आँखें याद आ गईं जो उन्हें देख कर गुस्से से पागल हो जाती हैं, और

तभी उनकी खुशी काफूर हो गई।

विमल आगे बढ़ा तो फिर उसे दिल की धड़कन के पास सटी हुई अपनी बीबी की चिट्ठी महसूस हुई। उसके दिल में शंका हुई। कहीं छोटा लड़का बीमार न हो। वह काँप-सा उठा। मन में कहा, कैसी वाहियात बातें सोचता रहता है। भला उसका छोटा लड़का क्यों बीमार होने लगा। पिछले साल एक चिट्ठी आई थी। उसकी औरत भी कितनी डरपोक है। कुछ हुआ नहीं कि झट चिट्ठी लिखती है। दो दिन की छुट्टी लेकर विमल घर पहुँचा। दवा-दारू में भी क्या कमी की। माना, कोई डाक्टर-वैद्य न बुला सका; पर बेचारे ने दिन-रात दौड़-धूप कर कोशिश की। कोई ओझा नहीं छोड़ा। कोई ऐसी दवा नहीं छोड़ी, जिसका लोगों ने जिक्र किया हो। यह तो सब भगवान् पर है। लड़का चल बसा। लोग कहते हैं यदि डाक्टर को दिखाया होता तो बच जाता।

विमल सिंह चुपचाप मन ही मन तर्क-वितर्क करता चला जा रहा था। सामने मोड़ पर वह घूमा। आगे लाल ईंटों का एक मकान है। इसमें पहले कोई सैनिक अफसर रहता था। पर इसमें अब केवल उसकी पच्चीस-छब्बीस वर्ष की औरत रहती है, अपनी पचास के ऊपर की सास के साथ। नई औरत कोई खास सुन्दर नहीं है, देह भी ढल-सी रही है। यों साड़ी बड़ी चटक पहनती है, मुंह पर पाउडर की मोटी तह पड़ी है; फिर भी चेहरे की विकृति चूना पुते भद्दी दीवार की तरह और भी उभड़ कर झलकती है। उसका पति दो-तीन साल हुए लड़ाई पर गया। तब से उसे कोई समाचार न मिला। लोग कहते हैं कि वह नई दिल्ली में एक मेम के साथ रहता है। इस बात पर वह बहुत चिढ़ती है। उसे विश्वास है कि उसका पति लड़ाई में इतना व्यस्त है कि उसे उसकी खबर लेने का मौका नहीं मिलता। हर महीने पचास रुपये के मनीआर्डर आते हैं। इस रुपये पर सास-बहू दोनों गिद्ध की तरह टूटती हैं। बुड्ढी का कहना है कि रुपये उसके लिए आते हैं क्योंकि वह उसकी माँ है। वह उसे बहुत चाहता

है। पत्नी कहती है बिलकुल झूठ। रुपये सब उसके लिए आते हैं। झगड़ा बढ़ जाने पर सास-बहू लड़ जाती हैं। सास बहू को चौपट और कुलच्छनी कहती है, नहीं तो भला उसका हीरा जैसा बेटा उसे छोड़ कर मेम रख लेता! विमल के हाथ से मनीआर्डर छीनते हुए बहू बोली, 'भला तुम्हीं कहो मुन्शी जी! इस बुड्ढी औरत से रुपये से क्या मतलब! पता नहीं यह कौन-सा शौक पूरा करेगी।'

सास बिगड़ कर कहती है, 'बुड्ढी तू, और तेरी माँ। मैं बुड्ढी क्यों होने लगूं!' इतना कह कर बुड्ढी अपने मरे हुए पति का नाम ले-लेकर रोने लगती है।

किसी तरह बीच-बचाव करके सास-बहू में बीस-तीस पर समझौता होता है। विमल सिंह की बुद्धि चकराने लगती है। दोनों औरतें कितनी सज-धज कर रहती हैं! हर महीने केवल बीस-तीस। भला इतने शौक के लिए रुपये कहां से आते हैं! आते होंगे कहीं से। वह बुदबुदाता है। उसकी बुद्धि सहसा लोगों के कहने पर विश्वास नहीं करती। वह सोचता है भला इतने बड़े घर की औरतें ऐसा करती होंगी!

उसे याद आ रहा था पिछली बार जब वह घर गया था, उसने पचास रुपये अपनी माँ को दिए। माँ ने रुपये उठाकर बहू को दिये और कहा, 'देखो मुन्नू की माँ! विमल तीन दिन के लिए छुट्टी पर आया है। भगेलू की दूकान से कोई सब्जी लेती आना' और फिर विमल की ओर देखकर बोली, 'क्यों रे खाता-पीता नहीं क्या? तू कितना दुबला हो गया है!'

दूसरे दिन जब उसने माँ के लिए साड़ी की बात कही तो बोलीं, 'मेरा तो काम तेरी फटी-पुरानी धोतीं से भी चल जाता है। मुन्नू की माँ के लिए एक साड़ी जरूर ला दे; उसकी धोती बहुत फट गई है। और हाँ, एक कोट मेरे नन्हें के लिए सिला दे। बेचारा जाड़े में

ठिठुर जाता है।' और वह पास लेटे छोटे बच्चे के शरीर पर हाथ फेरने लगती हैं और वह जैसे बेखौफ साँस ढील कर आनंद में डूब-सा जाता है। वह उसे आकाश की पवित्र तरिका के समान उज्ज्वल लगती हैं, जिनकी देह पर कोई भी आभूषण नहीं। या तो उन्होंने अपने बहू के पहले आगमन पर उपहार में दे दिए या तो बच्चों की दवा-दारू के सिल सिले में बंधक रख दिए।

विमल सिंह वैसे ही सोचता, अनिच्छापूर्वक चिट्ठियाँ बाँटता चला जा रहा था। करीब पाँच बजने वाले थे। दौड़ते-दौड़ते उसके पैर थक चुके थे। अभी कुछ चिट्ठियाँ और एक मनीआर्डर देना था। वह तेजी से कदम बढ़ाता चल पड़ा।

सामने एक मकान की ओर मुड़ा। तभी खिड़की से झाँकती एक तेरह साल की लड़की नीचे आई।

'बाबू साहब !' लड़की उसे सदा इसी नाम से पुकारती, 'है कुछ?'

विमल मुस्काया। उसने तीन-चार चिट्ठियाँ निकाल कर दीं।

'क्यों री रानी !' विमल ने आश्चर्य से पूछा, 'तेरी इतनी ढेर-सी चिट्ठियां रोज कहाँ से आई रहती है ?'

लड़की हँसी, 'नहीं जानते, ये सब मेरे पेन-फ्रेण्ड्स हैं।'

विमल उसकी ओर एक टक ताकने लगा। लड़की ने सोचा, शायद समझा नहीं, बोली, 'पेन-फ्रेण्ड्स' नहीं जानते, कलम के दोस्त। देखो, यह चिट्ठी ट्रावनकोर से मि० रंगनाथन् की। यह शिमला से राज-कुमारी गोयल की और यह नई दिल्ली से विजय कुमार चौहान की।' लड़की एक झटके से कह गई और तभी खट्-खट् करती चली गई।

विमल उसे खड़ा देखता रहा। उसका भाई कमल तो पंद्रह-सोलह साल का होगा। उसको आश्चर्य होता है कि यह लड़की इतनी उम्र में इतनी तेज है। कमल तो साफ हिंदी भी नहीं बोलता। बड़े-बड़े लोगों को चिट्ठियाँ तो क्या लिखेगा। फिर भी उसने निश्चित किया कि इस

बार यदि वह घर जायेगा तो कुछ हरे-लाल लिफ़ाफे कमल के लिए जरूर ले जायेगा और उससे कहेगा कि वह भी क्यों नहीं कलम के दोस्त बनाता।

उसकी चिट्ठियाँ खतम हो गईं। सामने देवी का घर है। उसका एक मनीआर्डर है पचास रुपये का। उसकी मां के नाम। देवी अभी दो महीने हुए रिक्शे की नौकरी छोड़कर कलकत्ता भाग गया है। एक ठीकेदार से भाड़े पर रिक्शा लेकर वह खींचता था, दिन भर में चार-पाँच रुपये जरूर मिल जाते। बारह घंटे का भाड़ा दो-तीन रुपये देने के बाद उसके पास खाने को बच जाते थे; पर किस्मत ठीक न थी। एक दिन उसका रिक्शा एक मोटर से लड़ गया। उल्टे मोटरवाले ने उसे पीटा भी क्योंकि उसे मोटर का शीशा टूटने का अंदेशा था। यदि शीशा टूटता तो क्या वह रिक्शे वाले के बाप के पास जाता? खैर, शीशा तो न टूटा; पर रिक्शा टूट गया, जिसे एक ओर हटाओ, चिल्लाता हुआ मोटर वाला चला गया। ठीकेदार ने रिक्शे के बनवाने का खर्च माँगा तो देवी रात में अपनी माँ को अकेला छोड़ भाग गया।

जब विमल पहुँचा तो ठीकेदार पहले से खड़ा था। उसने बुढ़िया के लाख गिड़गिड़ाने पर भी उसके हाथ से बीस रुपये ले लिये। बुढ़ी ने अपनी गर्द-भरी आंख से आसमान की ओर देखा और चुपचाप झोपड़ी में घुसी। उसे इसी रुपये में पिछले महीने का कर्ज और इस महीने का खर्च भरना है। उसने मनीआर्डर फार्म का कटा टुकड़ा विमल को देते हुए देवी का समाचार पूछा। यह जानकर कि उसे चटकल में नौकरी मिल गई, बुढ़िया ने धीरज की साँस ली।

सांझ का झुटपुटा घना हो गया। हल्की ठंड पड़ने लगी थी। विमल ने मुट्ठियों को बांध कर सीने से चिपका लिया। जिसके पास ही उसकी बीबी की चिट्ठी पड़ी थी, जिसे अब वह डेरे पर जाकर ही पढ़ सकेगा।

मुर्गे ने बांग दी

क् क् क् कु कु हूँ कू

मुर्गे ने बांग दी। उतरते क्वार का शीशे सा स्वच्छ आसमान हल्की ललाई लिए बिखरने लगा गोया उसके विशाल शरीर से किसी अदृश्य की अंगुलियाँ स्याह चादर बटोरने लगी थीं। मँगरू लोहार अपने बिस्तर पर कुड़बुड़ाया करवट बदली और जैसे उस आराम देह गुदड़ी में एक बार फिर अपने अस्तित्व को भूल जाने की गरज से थोड़ा सकपकाया तभी मुर्गे ने फिर पुकारा और वह आँख मलता उठ बैठा। चीलम पर गट्टी जमा कर वह बोरसी के पास बैठ गया। फूँक मार-मार सोते अँगारों को जगाया और उन्हें बड़े प्यार से उठा कर चीलम में भरने लगा। तभी उसकी पत्नी उठ बैठी। बिखरे बालों को अपने मशींन के पुर्जे की तरह तेज हाथों से एक झटके में बटोरा, पास सोए लड़के के उघरे शरीर पर चादर खींच कर वह उठी और अपने चौके बरतन के काम में लीन हो गई।

ढलते क्वार का उजला सूरज नीम की आड़ से झाँकने लगा। फुनगी

की पत्तियाँ किरणों के फोकस पड़ते ही नाच उठीं। बगल के आँगन में भात के लिए छीना-झपटी करने वाले कौवों ने शोर किया। तभी अपने भीतरी दालान में लकड़ी का एक ठीहा लेकर मँगरू बाहर आया। इमली की लकड़ी की हीर थी गठीली। ज़िन्दगी के बीस वर्षों से यह ठीहा मँगरू लोहार के परिवार का सदस्य बना हुआ है। मँगरू जब बारह वर्ष का था तभी उसका बाप मरा। बुड्ढे लोहार के किरिया करम में ठाकुर ने कुछ लकड़ियाँ दीं, उसमें से इमली की लकड़ी की इस गठीली हीर को मँगरू ने अपना साथी चुना। काली लकड़ी का ठीहा, रीढ़ की हड्डी-सा तना हुआ जिसके संगमूसा से शरीर पर मँगरू के बसुले और रुखान की मार कई निशान बना चुकी है, चेचक की दाग की तरह। मँगरू ने ठीहे को जमीन पर जमाया, अपने सिकुड़े हाथ को कड़ा किया और बबूल की एक लकड़ी खींच कर गढने लगा। हल बनवाने वालों की भीड़ बढ़ने लगी मँगरू का हाथ बढ़ती हुई धूप की तरह तेज हो गया। पत्थर-सी लकड़ी पर निरन्तर ठाँय-ठाँय पीटते-पीटते मँगरू का हाथ लोहे-सा चीमड़ है। जिसमें निली नसों का जाल फैला है। उसका गोल लौकी-सा सर गंजा है और निरन्तर बैठे रहने से पेट कुछ बड़ा। निरन्तर सिमट कर बैठने का कारण उसके पैरों की शक्ति खो चुकी है और वे बदन के हर हिस्से से कमजोर हैं।

बगल से अपने चरवाहे से टूटा हल उठवाए पंडित जैनारायण आए। पंडित लोग हल नहीं छूते सो उन्होंने अपने चरवाहे को मँगरू के सामने हल रखने को कहा और हाथ की सुरती जिसे वह घर से चलते समय ही मलने लगे थे दाँत के ओठ के बीच इत्मीनान से जमा कर बोले, 'क्यों रे मँगरा, भाई तुझसे तो ब्रह्मा भी हार मान लेंगे। हल बनाने में तो तूने उनकी कारीगरी को भी नीचा कर दिखाया।' अपने चरवाहे की ओर इशारा करते हुए पंडित ने कहा 'अभी सरजू ने एक भाँवर भी नहीं पूरी की, जरा-सा दुबचर में धँसा, गोले के पुट्ठे पर हाथ ही रखे था कि तुम्हारी पूरी हुनर का दिवाला पिट गया। समूचा हल जंघे तक टूट कर अलग।'

मँगरू हँसा एक विचित्र-सी हँसी जो उसकी गंजी, लौकी नुमा खोपड़ी के मेल में औसत से ज्यादा साफ थी जिसमें एक गर्व था जैसे पंडित जैनारायण की बातें कितनी झूठ हैं और इसे पास खड़े हर किसान ने आश्चर्य से सुना कि मँगरू के हाथ का कौशल धोखे से भरा हो गया है।

'सब करतब पीछे चला गया बाबा।' मँगरू की औरत ने दीवाल के सहारे एक लकड़ी रखते हुए कहा; 'हाथ की हुनर गृहस्थ के हाथ के साथ ही सिकुड़ गई है। यहाँ तो देह पीटते-पीटते बीमार भले हो जायँ, पेट भरने का कोई ठिकाना नहीं है।' और वह पास रखे बरतनों को उठा कर सँभाल-सँभाल कर रखने लगी। पंडित जैनारायण कोई भी उत्तर भी देंगे उसके सुनने की उसमें कोई उत्कंठा न थी क्या कहेंगे वे या तो चुप रह कर बाल खुजलायेंगे या अपनी असमर्थता को छिपाने के लिए कोई पंडिताऊ मजाक करके भगवान के आसरे जीवन बिताने की नेक सलाह देंगे।

सबेरे का समय था। किसान अपने घर से बड़े उत्साह के साथ हल लिए मंगरू के दरवाजे पहुँचे थे, पर अभी-अभी मँगरू की घर वाली ने एक ऐसी बात कही है जिसे सब जानते हैं, यह कोई इस लोहार के घर तक ही सीमित रहने वाली बात तो है नहीं, दो एक गृहस्थों को छोड़ कर सबकी अवस्था एक-सी है; पर इस बात में न जाने क्या सत्य है; कौन-सी पुकार है जो हर किसान को बेध-सी रही है और सबके चेहरे पर छाई खामोशी जैसे उनके अपराध की मात्रा बढ़ा देती है जिसे वे जान कर नहीं करते हैं। मँगरू के घर अनाज नहीं है इसे हर किसान जानता था; परन्तु यह बात इतने बे मौके आकर एक घटा-सी छा जायेगी, इस पर भला किसने सोचा था। इस मायूसी के वातावरण को मँगरू ताड़ गया उसने हँसते हुए कहा, 'लाओ तो सरजू मैं देखूँ तो इस बार कैसे उखड़ जाता है और उसने अपने उन्हीं चीमट हाथों से पीट-पीट कर कील को फाल के साथ चिपका दिया। सामने अपना टूटा हल लेकर कल्लू भगत

आए और देखते ही बोले, क्यों मँगरू भैया तुम्हारी जवानी लगता है अनजाने बीत रही है। भौजी से पटती नहीं क्या ?' सब एक साथ कल्लू भगत की ओर देखने लगे जो अपना हल उतार कर मिस्त्री के घर के फाटक से यह जान लेने का उपक्रम कर रहे थे कि मँगरू की घरवाली है कि नहीं और उन्होंने सामने न देख कर इत्मीनान से कहा, 'क्यों मँगरू भैया, आज कल तेल ओल नहीं लगातीं क्या ? तुम्हारा हाथ तो इतना धीरे कभी नहीं चलता था।' भीतर से मिस्तराइन पानी का घड़ा उठाये निकलीं। उसकी परिश्रम और दुःखों में पली देह एक विचित्र प्रकार की विरक्ति में डूबी रहती जिसकी ओर देखने का साहस कम ही करते। भगत की बात पर वह मुस्कराई पर आँचल की आड़ से ठिठक कर बोली, 'घर की लुगाई तो नैहर में बैठ कर लोगों से आँखें लड़ाती है, अपने बड़ा छबोला बना है।'

'नाहक गुस्सा होती हो भौजी' भगत ठहाका लगा कर हँसा, 'अरे तुम तो हो ही, एक और रख कर खिलाने पिलाने से क्या फायदा ?'

कल्लू भगत का हल बनाते हुए मिस्त्री बोला, 'क्यों भगत कुछ मेरा भी ख्याल रखना। भगत की तमाम हँसी जैसे एक निराश लाचारी में बदल गई। चेहरे को थोड़ा खींच कर भगत सूखी हँसी हँस कर रह गया। कुछ देर बाद बोला, 'धीरज धरो मँगरू भैया, जोगाड़ में हूँ। तुमसे क्या छिपा है। परती जमीन कलंक है, नहीं तो भला ठाकुर की इतनी आरजू मिन्नत कौन करता। किसी तरह हाथ-गोड़ पकड़ कर बीज डाल रहा हूँ आगे गोसाई की मरजी।'

भगत के हल से मिस्त्री जूझा ही था कि ठाकुर का हरवाहा हल लिए आया और ठीहे के पास बैठ कर बोला, 'क्यों मिस्तिरी हल बनाते हो या खिलवाड़ करते हो। अभी हराई भी नहीं पूजी कि फार उखड़ गया। उठा तो लिया काम सारे गाँव का, पर सिराता कुछ नहीं।'

'कौन है जी' भीतर से मिस्तिराइन बोली, 'देनी न लेनी बात की

मनौनी। खाने को तो कोई नहीं पूछता, बातों की जेवर सब गढ़ते हैं।'

'खाते तो हो कलकत्ता की कमाई' हलवाहा विकृत मुँह बनाकर हँस पड़ा, 'अरे कोई देता न होता तो गाँव छोड़कर चले गए होते।'

उसने पास खड़े और किसानों की ओर गर्व से गरदन उठा कर देखा गोया उसने कितनी शान से इस लोहार की बच्ची को डाँट बताई है; पर उसकी बातों को किसी ने कान नहीं दिया सब मनमारे खड़े थे

'जाने दो भाई तुम भी क्या औरत से बोलते हो' मिस्त्री ने उसका हल खींचते हुए कहा, 'हाँ जरा सीधा तो करना।'

यह तीसरा साल है जब कि किसानों के भाग्य ने धोखा दिया है। लगातार तीन साल से बारिश के क्रम में अन्तर आ गया है। कभी चैत के महीने में ही बादल घहरा उठते हैं खलिहान में रखी फसल सड़ कर काली हो जाती है कभी सावन बीते भी फुहार नहीं पड़ती। तप्त धरती पानी के लिए ललकती रहती है। इस साल चढ़ते आसाढ़ पानी बरसा तो सबने सुख की साँस ली। पर जो बरसा सो बरसा फिर तीन महीने तक आसमान में सफेद चित्ती भी न पड़ी। पास के तालाब से जो अपने धान जिला सके, उनका तो कुछ हो जायेगा बाकी सबके धान खेत में खड़े झुलस गए। मिट्टी पत्थर की तरह कड़ी हो गई है जिसे काठ के हल से जोत सकना टेढ़ा काम है। हल पर हल टूट जाते हैं, बैलों की ठठरियाँ चलने से इन्कार करतीं हैं, किसानों के भूखे पेट की गरमी कब तक चलेगी, सर्वत्र उदासी सी छाई रहती है। ऐसे ही इलाके का मँगरू मिस्त्री है।

किसान अपने हल बनवा कर चले गए थे। क्वार का दोपहरी सूरज अपनी चिलचिलाती धूप का जाल फैला चुका था। मँगरू अब भी उसी आंगन में बबूल की एक लड़की लिए बैठा है। सामने से एक छोटी-सी लड़की आयी रबड़ के खिलौने की तरह सुन्दर, तितली की तरह चंचल।

'मँगलू दादा।' उसने उसके हाथ को पकड़ने की कोशिश की तो उसने आंख उठा कर देखा, 'क्या है रे बब्बन!'

'मंगलू दादा, बीनू ने मेरा सुग्गा तौल दिया उँ उँ उँ बीनू ने तौल दिया।'

'अच्छा जा थोड़ी देर के बाद आना तो तेरा सुग्गा बना दूंगा।'

लड़की हठ करती रही; पर मँगरू को इतनी फुरसत कहाँ थी। वह चुपचाप उस लकड़ी को गढ़ता रहा जो अपनी तमाम अतिरिक्त मोटाई और वक्रता को छोड़ कर एक अच्छे से हल का आकार लेने लगी थी : उस हल का, जिसकी नोक से कठोर से कठोर मिट्टी, राढ़ी, दूब और कुशों से बँधी परती एक लहलहाते खेत में बदल जाती है, जिसमें हरे-हरे पौधे किसानों की आशा का भार सँभाले मुस्करा उठते हैं।

'क्यों रे मँगरा।'

मँगरू चौंक उठा। उसने देखा सामने ठाकुर की माँ खड़ी हैं। लम्बा-सा शरीर थोड़ा झुक जरूर गया है पर उनके चेहरे पर अब भी वैसा ही रोब है। सफेद साड़ी जैसी गँवई गाँव में कम नजर आती है। मँगरू की दृष्टि उनके पैरों की स्लीपर पर जम गई।

'क्यों रे तेरी आँख से शरम निकल गई ?'

'क्या है मलकिन।'

'अरे वो बब्बन आई थी सो तूने एक लकड़ी का सुग्गा नहीं गढ़ दिया ?'

'मैंने तो कहा था कि अभी बनाए देता हूँ बच्ची जा घूम आ।'

'तो कहाँ बनाए है' डपट कर ठकुराइन ने कहा, 'अरे तेरा बाप था सो बात पर नाचता था और तू है जैसे नबाब बना है। आँखें उलट गईं, नहीं पेट का खाना भी मुहाल था।'

'अभी बना देता हूँ मलकिन।' मँगरू ने कहा और चुपचाप एक लकड़ी लेकर सुग्गा बनाने बैठा तभी ठाकुर का छोटा लड़का दौड़ कर आया और अपनी दादी का आँचल पकड़ कर ठुनक उठा, 'और हमारी गुल्ली ईया।'

'जा जा' पुचकारते हुये ठकुरानी बोलीं, 'एक गुल्ली भी बना देना बीनू को मँगरू !' इधर ठकुरानी अपनी साड़ी का खूँट सँभालती भीतर गईं उधर मँगरू को भाई-बहन का गुल्ली-सुग्गा बनाने में आधे घंटे लग गये।

भीतर से मिस्तिराइन बोली, 'अरे आज भी भूखे रहोगे क्या ? अपने रहना हो रहो, लड़के की तो फिकर करो। सब की हालत खराब है। कोई मजूरी नहीं देता न सही ठाकुर के पास तो कम नहीं है न। जाओ खेत में होंगे, ऐसे कैसे काम चलेगा।' मँगरू ठीहे के पास से उठा। एक अगड़ाई ली, घर से अपनी मैली चादर लेकर कंधे पर डाली और बसुला-रुखानी लेकर ठाकुर के खेत की ओर चल पड़ा।

गली में खेलता हुआ उसका लड़का पास आकर बोला, 'क्यों बप्पा कहाँ जाते हो।'

'सिवान में।'

'मैं भी चलूंगा।' लड़के ने हठ किया।

'नहीं तू घर जा, खाना खाले'।

'तुमने खा लिया बप्पा !' लड़के ने पूछा तो उसने अपनी लौकीनुमा गरदन हिलाकर 'हूँ' की और लड़के का हाथ छुड़ा कर खेत की ओर चल पड़ा।

सूरज की तिरछी किरणें चमकीं। सिकुड़ी जमीन को चीरने से पूरे सिवान में एक सोंधी सी महक छाई हुई थी जो थके मँगरू को बड़ी ही अच्छी लगी। तालाब के पास वाले खेतों में धान की बालियाँ फूट रहीं थीं सो भी बहुत छोटी छोटी; पर उन के उमस की एक गंध अलग ही तरह की थी। मँगरू लोहार चुप-चाप खेतों की मेड़ से होता चला जा रहा था। ठाकुर का खेत दूर था और रास्ते में कहीं पेड़ न पालव। खेत पर पहुँच कर मँगरू बैठ गया।

'क्यों मँगरू' ठाकुर ने पूछा, तेरी औरत लोगों को आँखें दिखाती है और तू मज़ाक करता है कि हल बनाता है। घंटे घंटे हल टूटे तो फिर मेरी तो खेती हो चुकी।'

'औरत नीच जात होती है मालिक' मँगरू ने ठाकुर की ओर विनय भाव से कहा, 'तीन रोज़ से फाके हुए सो उसका दिमाग़ खराब हो गया।'

ठाकुर चुप थे। बोले, 'क्यों रे टीमल तेरा हल ठीक नहीं चल रहा है न। छोड़ दे बैलों को, बनवा ले, नहीं घंटे आध घंटे में फिर परेशान होगा।'

मँगरू हल ठीक करके आया उसकी ओर देख कर ठाकुर मुस्कराए, 'क्यों रे मँगरू दिन पर दिन तेरी घर वाली निखरती जा रही है। क्या खिलाता है उसे?'

मँगरू ठहाका लगाकर हँसा, 'मालिक गरीबों की औरतें भूखे रह कर निखरती हैं' और साहसा वह चुप-चाप कुछ और कहने के लिये साहस बटोरने लगा। कुछ देर बाद बहुत गिड़गिड़ा कर बोला, 'मालिक मेरी मजदूरी मिल जाती।'

'मजदूरी!' ठाकुर बोले, 'जैसे हम गाँव छोड़कर भागे जा रहे हैं। अरे भाई दस-पन्द्रह रोज की तो बात है। जहाँ बुआई खतम हुई नही कि तुम्हारा हिसाब।'

मँगरू ने लाख मिन्नतें कीं पर सब बेकार। ठाकुर ने साफ कहा कि यह कोई पहला साल नहीं है। बीस वर्षों से वह उनका हल बनाता है फिर इसी साल कौन नई बात हो गई जो वे बाप दादा के जमाने से आती हुई बात को तोड़ दें। अरे दस दिन में बिगड़ता ही क्या है।

मँगरू निराश थका हारा घर की ओर लौटा।

'मुन्नू की मां उसने आँगन से ही अपनी औरत को पुकारा, जरा मेरा ठीहा तो लेती आना उस हल को गढ़ दूं।'

दरवाजा खोल कर वह निकली। सामने देखा मँगरू खड़ा था अपराधी

की तरह घुटनों तक धूल से सना, थका-थकाया। सिर पर पसीने की बूंदे थीं आंखों में निस्तेज कातरता

'क्या कहा जमीदार ने।' औरत बोली।

'कहने लगे दस पन्द्रह दिन में क्या बिगड़ जाता है। एक साथ ही हिसाब हो जायेगा।' औरत ने कुछ कहा नहीं। भीतर चली गई। गुड़ और एक लोटा पानी लाकर रख गई। पानी पीकर मँगरू ने चीलम पी, बसुला उठाया और फिर उस अधगढ़े हल को लेकर पीटने लगा ठाँय-ठाँय।

ढलते सूरज की किरणें मँगरू की निस्तेज आँखों पर चौंध पैदा करतीं, पर वह चुप-चाप वैसे ही बैठा रहा। उसकी आँखों में शरम नहीं हैं, उसमें हुनर की वह चमक कहाँ ये सारी बातें उसके भूखे मस्तिष्क में उठती ही कैसे उसके सामने केवल एक ही उद्देश्य है बस पत्थर सी कठोर लकड़ी को पीटे जाना जो खुद उसे अचेतन लकड़ी की तरह संज्ञाशून्य बना देगा, जिस में उसे सांसारिक कष्ट से क्षणिक शान्ति तो मिलेगी ही।

सामने से दुलारी भगतिन अपनी रोती लड़की का हाथ पकड़े भयङ्कर रूप में आ खड़ी हुई, 'देखो मिस्त्री अपने लड़के की करतूत।' सामने उसकी लड़की मुँह फाड़ कर चिल्ला रही थी उसके चेहरे पर आँसू काजल और धूल से मिल कर एक गाढ़ी कालिमा फैल गई थी पर पता नहीं उसे चोट कहाँ लगी थी।

दरवाजा खोल कर मिस्तिराइन खड़ी हो गई। मुन्नू अपराधी की तरह अपनी माँ की साड़ी में छिप जाने की कोशिश कर रहा था।

'गिर गई होगी भगतिन, खेल में ऐसा हो ही जाता है।' मिस्तिराइन बोली।

'हो ही कैसे जाता है। उसे लग गई होती तब न पता चलता। सारा गाँव सर पर उठा लेती, चली हो सीता बनने।

दोनों औरतें लड़ पड़ीं। मँगरू घबड़ा रहा था। वह चुप-चाप उठा और पत्नी की गोद से लड़के को छीन कर, उसके गाल पर एक झापड़

जड़ दिया, 'हरामी, बार-बार मना किया कि घर में बैठो, गरीबों के लड़कों के लिए खेल नहीं है। पर जैसे सुनता ही नहीं।'

'शरम नहीं लगती तुम्हें' चीखते हुए बच्चे को अपनी ओर खींचकर मिस्तिराइन अपने पति की ओर क्रुद्ध गाय-सी देखते हुए बोलीं, 'अपना करम नहीं देखते चले हैं मारने। भूख लगी है तो भीख माँगो! लड़के को मारने से तो पेट नहीं भरेगा।'

मिस्तिरी चुप-चाप अपने लकडी-बसुले में खो गया। उसके मन में एक गुब्बार सा उठ रहा था, प्रबल आँधी के बेग-सा पर जो बाहर नहीं निकल पाता था और मन में ही घुमड़ कर उसकी आत्मा को खँरोच रहा था।

शाम हो गई। सूरज के गेरुये प्रकाश पर अंधकार ने जैसे कोयले का धुवाँ फैला दिया। मँगरू ने बसुला रख दिया। वह उठा, अगड़ाई ली और जलते आसमान की छाती पर फफोले की तरह उठते हुए तारों को देखा।

रात आई, ठंडी, शीतल रात। दीपक के धुँधले आलोक में, पुआल पर लेटे लड़के के गाल को मँगरू ने सहलाया। सारा गुब्बार जैसे छट कर उसके आँखों से बह चला। पास ही उसकी पत्नी लेटी थी। उसने उसके रुखे बालों को सहलाया और उसे बलात् अपनी वाहों में खींच लिया। उसकी धुँधली आँखों से अविरल आँसू गिर कर पत्नी के रूखे बालों को भिगोने लगे, उसके मन की सारी पीड़ा जैसे आँसुओं में बह कर शांत हो जायेगी।

बडी मीठी रात, गरीबी और भूख की ज्वाला पर ओस के पर्दे की तरह छागई। तभी इस्माइल के मुर्गे ने बाँग दी।

क़ क़ क़ कु कु हूं कू।

और मँगरू फिर हड़-बड़ा कर नए दिन के स्वागत के लिए उठ बैठा।

*

उपधाइन मैया

बड़ी डरावनी रात थी। सांझ होते ही घरों के फाटक बन्द हो जाते। द्वार-द्वार पर मिट्टी की काली घरियों में लवंग-गुड़ की धार का पानी लटका दिया जाता। एक कोने में चमकती आग रख दी जाती जिसमें गुग्गुल और धूप डाल दी जाती। गलियों में काला धुप् अन्धकार छा जाता जैसे चारों ओर यमराज के भैंसे घूम रहे हों। रहता-रहता कहीं सन्नाटा चीख उठता। एक हड़बड़ाहट, एक दौड़-धूप। और फिर अनबोल खामोशी। महामारी की पकड़ में सारा गाँव बेहाल था। आकाश में बदली उठती, घुमड़ कर रह जाती। पानी का नाम नहीं। उमस से दम फूलने लगती।

'के, हो' लपक कर आवाज पूछती।

फिर एक हलकाता स्वर, चौधुरी की बहू, साहु की लड़की, रीमल चमार का जेठा बेटा, मँगरू की घरवाली, और फिर भय का घोर साम्राज्य।

मुन्शी देवीलाल ने सामने की गली में कोई सफेद चीज देखी। सफेद,

बिल्कुल कोरे कागज की तरह सफेद। चिंहुक कर चबूतरे पर चढ़ गये। भय के मारे चीख निकल गई।

'क्या है मुन्शी ?' बगल के बरामदे से मोटी-सी आवाज ने मुन्शी को गिरते-गिरते थाम लिया।

'अब क्या कहें रायसाहब' मुन्शी माची पर बैठते हुए बोले, 'इकहरी, एकदम औरत के बराबर सफेद दप-दप जैसे बर्फ की बनी यों दिखी त्यों दिखी ,बस आँख झपते गायब।'

जमीदार जी के रोंगटे खड़े हो गये, अच्छा छोड़ो भी मुन्शी महावीर जी का नाम लो। कोई छाया-वाया रही होगी। दिन बुरे आये हैं। ऐसी बीमारियों में इस तरह की चीजें दिखती ही हैं।'

मुन्शी जी कुछ कहने ही जा रहे थे कि उसी गली से जोखन पांडे हाथ पर सुरती मलते आकर छावनी में बैठ गये। पांडे के घर कोई न था। न मेहर न लड़िका। सो वे बड़े ढीठ गिने जाते थे।

'गजब हो गया राय जी' पांडे बोल उठे।'

'अयं, आपने भी देखा' मुन्शी चौंक उठे। राय जी तकिए पर उठङ्ग कर मन ही मन हनुमान चालीसा का पाठ कर रहे थे, सो कनकना कर बैठ गये। सबकी मुद्रा में एक ही सवाल था, 'क्या हुआ ?'

'हुआ क्या, अभी उस टोले में बीमारी फैली है। अब इसमें भी फैलेगी। अभी साहु की लड़की पकड़ायी है। बभनैया भी जायेगी।

'क्या बात है ?' राय जी बोले।

'रामसरन उपाध्या की बहू अहीरों वाले टीले में गई थी। एक ओर रमेसरी मुसरमात का लड़का पकड़ गया है, दूसरी ओर जग्गू की घरवाली की अब-तब लगा है, ऐसे में उपधाइन जी घर-घर दवा बाँट रही हैं, जैसे धन्वन्तरी हो गई हैं, मरते को बचाने चली हैं।'

'आपने कहाँ देखा ?'

'अभी–अभी तो इसी गली से गई है। तालाब से नहा कर आ रही

थी। नहाने-धाने से कहीं छूत मिटने वाली है।'

'उपाध्या की बहू थी?' मुन्शी जी को अब भी तस्कीन न हुई। बोले, आपने अच्छी तरह पहचान तो लिया।'

'हाँ हां मुन्शी, खूब पहचान लिया। तुमने शायद कभी देखा नहीं। मैं तो रोज देखता हूँ। इतना साफ चिट्टा उसके अलावा कौन पहने।'

रामसरन उपाध्याय की बहू विधवा थी। तब रामसरन उपाध्याय जीवित थे, उनके ज्योतिष की देश-दिहात में धूम थी।

गाँव के जमीदार तारकेश्वर राय उनके जजमान थे। गाढ़े वक्त में दोनों में गुरू-चेले का नहीं दोस्तों का नाता था। उपाध्यायजी के पास जमीन न थी, पर घर में आँटे-दाल का ठेलम-ठेल मचा रहता। अन्तिम दिनों में तो उनके पास पाँचेक बीघे जमीन भी हो गई थी जिसे जमीदार ने कृष्णार्पण में दिया था। लोग-बाग इसे राय साहब की धर्मबुद्धि समझते, पर असली राज कुछ और ही था जिसे उपाध्याय ने मरते दम तक गोप्य रखा। कभी-कभार जमीदार की लड़की के बारे में साँय-फुस होती भी तो उपाध्याय जी के डर से कोई कुछ न कहता। लोग कहते कि उन्हें काली का इष्ट है। जाने कब क्या कर दें? उपाध्याय जी ने कितनी ही औरतों को लड़के दिये थे। कितनों की कुण्डली में मार्केश ठीक किया था; पर भगवान् के आगे किसी की कुछ नहीं चलती। चार ही दिन की बीमारी में उनका लड़का चल बसा और वह हाथ पर हाथ धरे बैठे रह गये। बहू के हाथों की चूड़ियाँ तोड़ी गईं। चोटी-सिन्होरा-तेल, उटबन की डोकियों को गङ्गा में बहाया गया तो उपाध्याय फुक्का मारकर रो उठे। अपने तीन बरस के नाती को कलेजे से चिपका कर उन्होंने जलती आग ठण्डी की; पर अभी लड़के की मौत का घाव भरा न था, बरसाती बौछारों की मार से घायल दीवालें पूरी भी न थीं कि क्वार महीने में छोट्टक को टायफायड हो गया और लाख दौड़-धूप करने पर भी उपाध्याय उसे बचा न सके। नाती की मौत से उपाध्याय पागल हो गए, उनकी आँखों क

जोत चली गई। हाथ में मोटा-सा डण्डा लेकर ठेगते चलते। देखने वालों की आँखें भर जातीं। साढ़े-साती का ऐसा प्रकोप सुना था, देखा तो अभी गया। बहू की हालत तो अजीब हो गई। दिन रात घर में मुँह गाड़े पड़ी रहती। उपाध्याय कुछ समझाना चाहते; पर मारे भय के लौट जाते। उन्हें अपने पर दुःख होता, अपनी जिन्दगी को कोसते, जीना उनके लिये बड़ा निन्दनीय काम मालूम होता। उन्हें लगता कि उनकी जिन्दगी का हर क्षण किसी दूसरे की आयु लेकर बीत रहा है। वे अपने प्रति घृणा से भर जाते। इधर वहू दिन रात उजड़ी आँखों से उनकी गिरती हालत को देखती, कुछ कहना चाहती, पर कह न पाती। इसी तरह दिन बीतते गये और एक दिन अचानक परवाना आ गया। उपाध्याय दुपट्टा झाड़ कर चल पड़े। बहू के ऊपर तो जैसे सकता छा गयी। बोल बन्द हो गई। दाँत-काठ लग गया। मौत का ऐसा खिलवाड़ कहाँ दिखाई पड़ता है? जिसने सुना ठक से हो गया। कोई सोच भी न सका कि अब क्या होगा? विपदाओं की अटूट शृङ्खला में बेचारी बहू का क्या होगा? इतना बड़ा घर जैसे भाँय-भाँय करता था। यह घर तो उसके लिये छोटी-सी दुनिया ही था जिसमें उसका कोई न था। न सहारा देने वाला, न बात पूछने वाला। श्राद्ध तक भीड़-भाड़ रही। लोग आते जाते रहे। पर इसके बाद तो जैसे कोई जानता भी नहीं कि इस घर में कोई जीवित प्राणी भी है, किसी प्रकार का कोई शब्द, कोई बात-चीत, कोई गति, कुछ नहीं।

और आज बहुत दिनों के बाद यह सुनकर कि उपधाइन ऐसी भयङ्कर बीमारी में घर-घर घूम कर दवायें बाँट रही हैं लोग आश्चर्य में डूब गये। राय साहब, मुन्शी जी और जोखन पांडेय तीनों ने इसे अनिष्टकारी कहा।

दूसरे दिन प्रातः काल राय साहब उपधाइन के द्वार पहुँचे। उन्होंने बहुत कुछ नीच-ऊँच समझाया। बीमारी का भय, नवयुवती की सीमायें और मित्र की पुत्र-बधू के प्रति अपने कर्तव्यों की व्याख्या करके राय

साहब ने उपधाइन को घर के भीतर रहने की सलाह दी। उपधाइन ने कोई उत्तर न दिया। अन्त में राय साहब बोले, 'चाहे जो हो, मैं आपको अपनी जान जोखिम में तो नहीं डालने दूँगा।'

द्वार के पल्ले की ओट से उपधाइन जी बोलीं, 'जोखिम से बचते-बचते तो यह हाल हुआ। अब रहा ही क्या जिसके लिए बचू-बचाऊँ। भगवान् की जैसी इच्छा? मैं लोगों की सुख में हिस्सा नहीं ले सकती तो लाचारी है पर दुःख तो अपने भाग का है। इसे छोड़ कर मैं किस ओर की हूँगी।'

राय साहब की आँखें खुली की खुली रह गईं। उन्होंने कठिनाई से पलकें मुलकाईं। उन्हें विश्वास न हुआ कि पल्ले की ओट से इस तरह का उत्तर सचमुच उपधाइन बहू दे रही है। घर में बन्द रहने वाली औरत के बारे में उन्होंने कुछ और हीं सोच रखा था।

राय जी पराभूत की तरह बोले, 'फिर आप जैसा सोचें मैं तो अपना फर्ज कह रहा था ताकि कोई यह न कहे कि बुड्ढा देखता रहा और बेचारी बहू आफत में फँस गई। इसलिए चला आया था। बिना कहे अपने को सन्तोष भी तो नहीं होता।'

'ना ना आप दुःखी न हों।' उपधाइन जी ने धीरे से कहा, 'मान लें कि एक बेटी बुरी निकल गई। सच ही मैं कितनी अभागी हूँ। पर आप ही सोचें कि कोई गरीब माँ अपनी कोख में बच्चे की लाश लिए बैठी हो तो क्या उसे समझना भी गैरमुनासिब है कि जिसे गोद में चिपकाए है वह बच्चा नहीं, लाश है। कल रमेसरी मुसम्मात का लड़का मर गया आगे पीछे कोई न था। इस बीमारी में कौन किसके पास जाता है। मैं अपने को रोक न सकी। इसे आप जो समझें।' राय साहब कुछ कह न सके। चुपचाप लौट आये।

भादों की काली घटा घुमड़-घुमड़ कर बरसने लगी। महामारी का प्रकोप शान्त हो गया। तूफानी रात के बाद सुबह का चमकीला आकाश कितना मनोरम होता है। आज जन्माष्टमी थी। उपाध्यायजी के घर की

सफाई हो रही थी। बूढ़े उपाध्याय जी जीवित थे, तब भी इस घर की सफाई इतने उत्साह से नहीं होती थी। पूजा-गृह की दीवालें सफेद मिट्टी से पोती गईं। सोंधी गंध से कमरा महक रहा था। सिंहासन धोया गया। पलने को लोगों ने सुनहरे तार, रङ्ग-बिरङ्गी झण्डियों, चमकीली पन्नी के टुकड़ों और कुईं की मालाओं से सजा दिया। सामने बइठके में दरी बिछा दी गई। लड़के, औरतें, मर्द सभी आ-आकर बैठ गये। बड़े उत्साह से उत्सव आरम्भ हुआ और रात बारह बजे जन्म के अवसर पर घरी-घंट, झाँझ-मृदङ्ग के समवेत स्वर से गांव का वातावरण मुखरित हो उठा। एक क्षण के लिए सबके मन से शोक-पीड़ा का भारी पत्थर खिसक गया।

प्रसाद बाँटा जा रहा था। पंजीरी-हलवा, खीरे के टुकड़े दिए गए। उपधाइन जी की आंखों में सहज जोत थी। उनके शरीर पर धुली साड़ी थी। हाथ में चरणामृत का पात्र। उनको चारों ओर से बच्चे घेर लेते। उपधाइन उनके बींच विह्वल हो जातीं। आगे-पीछे फैले हुये दर्जनों नन्हे-नन्हे हाथों को उनकी अँगुलियाँ चूमने लगतीं। चीनी-दूध से बने चरणामृत को बच्चे पीते और अपनी निष्कलंक आँखों से उपधाइन की ओर देख कर हाथ फैला देते। लड़कों ने मारे प्रेम के कब उपधाइन जी को उपधाइन मैया कहना शुरू कर दिया इसे कोई नहीं जानता, पर जब धीरे-धीरे साठ साला पार करने वाले चमार, तथा गांव भर के अहीरों के वृद्ध चौधरी झनकू भी उनको 'उपाधाइन मैया' कह के 'पाँव लगी' करते तो उपधाइन जी के गाल मारे लज्जा के लाल हो जाते।

बिपत्तियों के द्वार से उपधाइन जी लोगों के घरों में पहुँची थीं, इसी से शायद हर किसी की विपत्ति में उनका कुछ कहने का अधिकार था। हर दुःखी उनका अपना जन था। उसकी भलाई-बुराई के जैसे वे ही जिम्मेवार थीं। घर में कोई बहू सास से प्रताड़ित होती। रसोईं बिगाड़ देने या कोई सामान तोड़ देने के लिए बातें सुनती। उपधाइन मैया यदि

पास बैठी होतीं तो चट बोल उठतीं 'जाने भी दो बहन जी, बेचारी लड़की है। अभी उमर ही क्या हुई। सब सीख लेगी। और फिर वे बहू की ओर घूम कर कहतीं, 'जा बेटी जा, हाथ पैर धो। घर की चीजों को संभाल के रखना होता है। अपनी चीज तू न ठीक रखेगी तो और कौन रखेगा?'

रायजी के घर की औरतें सूद पर रुपये उठातीं। फसल के दिनों में जबर्दस्ती अपने रुपये वसूल करातीं। एक का सवा। गरीब औरतें बिलबिला उठतीं। आफत-विपत्ति की बात करतीं तो गालियों की बौछार मिलती। गाय छोड़ लाने, बर्तन भांड़े उठवा मँगाने की धमकी मिलती। वे अँचरे का खूँट पकड़े उपधाइन मैया के पैरों पर गिर पड़तीं। उन्हें विश्वास था कि देनदारों के आगे उपधाइन मैया एक बार भी उनकी विपत्ति की बात कह देंगी तो कुछ दिन और मुहलत मिल जायेगी। ऐसे मामलों में कभी-कभी उपधाइन मैया को भी तीखे अनुभव होते। अपनी जमानत पर वे मुहलत तो दिला देतीं पर मुहजोर मालकिनें समय पर रुपया न मिलने पर उपधाइन मैया को तीखे वाणों से छेदने लगतीं। उन्हें भी बेइमान और धोकेबाज कहतीं, पर उपधाइन मैया करतीं भी क्या? केवल मुस्करा कर रह जातीं। मन की पीड़ा को बाहर से कौन देख पाता है?

पता नहीं पिछले दो-तीन सालों में क्या हो गया कि बच्चे-बूढ़े सब की जबान पर उपधाइन मैया का नाम 'इष्ट मित्र' की तरह बस गया। अचानक एक दिन गाँव के इस छोर से उस छोर तक एक ऐसी खबर फैली कि सब लोग हक्का-बक्का देखते रह गये। सब को लगा कि अनर्थ हो गया। लोगों को यद्यपि विश्वास नहीं होता था, पर यह चर्चा सर्वत्र जोर पकड़ रही थी कि राय साहब के लड़के के साथ उपधाइन मैया का अनुचित सम्बन्ध है। खुद जोखन पांडेय ने उन लोगों को राय जी के घर अकेले कमरे में बात चीत करते देखा है। धीरे-धीरे यह खबर पक्की

होने लगी क्योंकि इसके प्रचारकों का विश्वास और व्यक्तित्व भारी पड़ने लगा। फिर तो बहुतेरे ऐसे निकल आये जिन्हें उपधाइन मैया के और भी काम बुरे लगे थे। उदाहरण के लिए वे गाँव के बड़े घरों की बहुओं को भुलवा कर चोटी-कंघी, तेल-साबुन आदि खरीदने के लिए पैसा लेती थीं और बाजार से घटिया चीजें खरीद कर दे देती थी। इस तरह बाकी पैसे ऐंठ लेती थी।

जहाँ भी गाँव की चार-पाँच औरतें इकट्ठा होतीं, बस उपधाइन मैया की चर्चा छेड़ देतीं। कैसी सीता थी? राम-राम, ऐसा पाप कभी नहीं सुना। हाँ हाँ, हमें तो पहले ही मालूम था। भला विधवा और माथा खोल के गांव भर घूमती रहती है। बेसवा है बेसवा लड़कियों से ऐसे फूहड़-फूहड़ मजाक करती है कि शर्म लगती है। लुग्गा कैसा चटकार पहनती है। जरा दाग नहीं पड़ता। घर में कौन चहबच्चा गड़ा है। सब रुपया तो तेरे-मेरे घर से ही आता है।

उपधाइन मैया इन तमाम बातों को सुनतीं। वे चुपचाप मुँह गाड़े बैठी रहती गाँव में निकलना उनके लिये असम्भव सा हो गया। जोखन पाँडे को चिंता हुई। कार्तिक की बुआई शुरू हो गई थी। उपधाइन मैया ने हल-बैल मांग-मूंग कर अपना खेत जोतवाया था। कल बोने की बात थी कि दूसरे दिन सुना उस खेत में जमींदार का हल चल रहा था। जमींदारी टूट गई सो बेचारे क्या करें? अब कृष्णार्पण देने का जमाना नहीं रहा। उपधाइन जी ने यह सुना तो कुछ बोलीं नहीं।

जोखन पांडेय ने दो चार दिन इन्तजार किया। लाचार वे एक दिन स्वयं उपधाइन जी के घर गए। बोले, 'आप हम को जो भी समझें मैं तो अपने को आप का शुभचिंतक ही मानता हूं। जब से सुना कि चाचा को जो जमीन राय साहब ने कृष्णार्पण में दी थी, उसे ले ली; तब से खून खौल रहा है। ब्राह्मण का धन हजम कर लेना खेल नहीं है। भुलवा न दी उनकी शेखी तो फिर मेरा नाम नहीं।'

'दान की जमीन थी। अब वे नहीं चाहते हैं तो जोतें इसके लिये झगड़ा-फसाद कैसा ?'

'कहता हूं न कि आप एक दम बच्ची हैं।' जोखन पांडेय मूछों में मुस्कराये 'एक ओर उनका लड़का है कि झूठ-मूठ आप की निन्दा करता फिरता है और उसके बाप ने जमीन ले ली। उस जमीन का किस्सा आप नहीं जानतीं शायद' उपधाइन चुप रहीं तो जोखन पाण्डेय बोले, 'जमींदार की लड़की को कुंवारेपन में हमल रह गया था। उसी को पाक-साफ कराया बनारस में। चाचा न होते तो वह छीछालेदर होती कि बच्चू को मुंह दिखाना मुश्किल हो जाता। उसी के बदले में वह जमीन मिली है, कुछ कृष्णार्पण नहीं। सोचते होंगे, उपध्या तो मर गये चलो अब रहा ही कौन ?"

'ना ना, ऐसा न कीजिएगा। मुझे तो कुछ मालूम न था, वरना इस तरह की रोटी खाने से तो न खाना अच्छा है। फिर इस बात के खुल जाने से उस बेचारी लड़की का क्या होगा ?' जोखन पांडेय चुप ताकते रह गये। वे शुभचिंतक बन कर उपकार के बोझ से लादने आये थे सो हताश उठ कर चले गए।

अगहन का महीना था। शाम के समय उपधाइन मैया अपने मकान के अहाते में बैठी कुछ सोच रही थीं। तभी गली में जोर का शोर मच गया। वे दौड़ कर चौखट के पास आईं। देखा सामने के चौराहे पर बड़ी भीड़ जमा है।

बात यह थी कि अभी-अभी जमींदार के बड़े बेटे घोड़े से आ रहे थे। घोड़ा वेग में था। गली में झुनिया दुसाधिन का लड़का खेल रहा था सो घोड़े की चपेट में आ गया। जोर के धक्के से वह जमीन पर गिर पड़ा। जिस से उसका सर फट गया। भीड़ में सभी जमीदार के लड़के को भला बुरा कह रहे थे; पर घायल बच्चे की किसी को फिकर न थी। उपधाइन मैया धीरे से आईं। और उस भीड़ में बच्चे को खोजने लगीं।

उन्हें देखते ही जोखन पांडे की भौंहें घूमीं।

'हुँह्, पता नहीं पापी कब मरेगा?' पांडे ने हाथ पर सुरती ठोकते हुए कहा, 'सारा गाँव इसी के पाप से तबाह हो रहा है।'

उपधाइन जी ठिठकीं, 'गाली देने के और भी बहुत से मौके मिलेंगे पाँडे, पर जिस अभागी मां का बच्चा हाथ से निकल जायेगा, उसकी आँखों के आँसू न तो तुम पोछ सकोगे न मैं।' वे द्रुतगति से बच्चे के पास पहुँची और उठाकर घर की ओर चलीं।

भीड़ ने मुद्दत के बाद उपधाइन मैया को देखा। वैसी की वैसी। न चेहरे पर सिकन, न चिन्ता की कालिख, न अपमान का धुवाँ। बहुतेरे तो आत्म-ग्लानि से भर गये।

उपधाइन जी उनकी आँखों के सामने घायल बच्चे को हाथ में लिये खड़ी थीं; लोक कथा की उस देवी की तरह जो शापित पुजारी को दिखाई नहीं पड़ती, पर उसके कष्ट में सहायता के लिये अवश्य आ जाती हैं।

*

आर-पार की माला

जेठ आ गया है। दूध-सी सफेद मिट्टी की छाती पर नीलम के पौधों को दुलराने वाला माघ कहाँ ? दोनों किनारों पर दूर तक सफेद बालों-सी कटे जौ की खुत्थियाँ और बीच में सिमटी हुई असहाय विधवा की धुली माँग-सी गंगा। किनारे खड़े विशाल पीपल की पत्तियाँ गिर गयी हैं, नयी कोंपलें निकल रही हैं—लाल, डूबते हुए सूरज की तरह सुर्ख। लगातार चार महीने तक किनारों को धक्के देने वाला पानी तट छोड़ चुका है। सड़ी मिट्टी की सोंधी गन्ध हवा में भर गयी है, बड़ी ही सुहानी।

'ओ एऽ एऽ मल्लाह, आना भाई !' ज़ोर की आवाज़ बिजली की तरह लपक कर दोनों किनारों को जोड़ देना चाहती है।

नदी की धार में खम्भे-सा धँसता हुआ सूरज सुनहला रंग घोल रहा है। किनारे बैठी नीरू कुछ सोच रही है। दिन-भर की गर्मी से तपे शरीर को शीतल हवा छू जाती है; पर उसे कुछ ज्ञात नहीं। शरीर को उसने देखा ही कब ! आसमान का लाल रंग सुरमई होता है। नीरू की आँखों में एक हल्की कालिमा छा जाती है। दूर, गंगा की छाती पर एक

नाव चली आ रही है—चलती-सी। काँपता हुआ रंगीन पानी हँसता है। लहरें उठतीं हैं, छेड़खानी करती हुई।

पार की किसी गाँव की औरतें हैं, बीच में दूल्हा है, बग़ल में दुलहिन। हाल में शादी हुई है। आज वे गंगा के दोनों किनारों को, मूँज की पीली रस्सी से, जिसमें पीले कनेर के फूल गुँथे हैं, जोड़ देंगे। दुलहिन झीने घूँघट के बीच से आँखें घुमा कर देखती है। दूल्हा मुसकराता है। आँखें कहती हैं, 'हाँ, आज वे दो कभी न मिलने वाले किनारों को जोड़ देंगे।'

नीरू बुदबुदायी। कुछ सोचा।

'थू-थू-थू!' उसने अपने होंठ काट लिये। लम्बी साँसें उठीं और खो गयीं। उसकी उजड़ी स्याह आँखों में बीते दिन का रंगीन आसमान झाँकने लगा।

माघ के दिन थे। दिन में दपदपाता सूरज चाँद-सा लगता। सारी दुनिया जैसे सपने में चलती। खेतों में उफान था, गाज की तरह श्वेत फूलों वाली मटर छा गयी थी। बुड्ढा मटरू नट खुश था। उसे अपने गृहस्थों के बैभव का नाज़ था। उनके घरों में यदि दूध है, तो मटरू को विश्वास था, उसे छाछ की कमी न होगी। मटरू अपने दरवाज़े के सामने बैठ कर मूँज की रस्सी बट रहा था। सामने से उसकी लड़की नीरू निकली। कमर पर रखे भारी घड़े का पानी छलका, पैरों की गति में जैसे कोई ताल दे गया। गन्दे-फटे कपड़े की आड़ में बच्ची नीरू को बिटिया नीरू के रूप में देख कर मटरू की आँखों में उसकी दिवंगत पत्नी की छाया नाच उठी। तभी जैसे कहीं से बादल का टुकड़ा उठा और उसकी आँखों में एक स्याही दौड़ गयी। मटरू नीरू का बाप ही नहीं, माँ भी है। यदि उसकी माँ होती, तो उसकी चिन्ता के बहाव में वह कुछ आनाकानी करता, टालमटोल चलती, कुछ दिन सब्र का उपदेश दे कर चुप बैठ पाता; पर वह खुद ही उसकी मां भी है। शादी की तमाम

चिन्ता, बेटी की चोटी से लेकर वर ढूंढने का पूरा काम उसी का है। मटरू ने सोचा। उसके हाथ रुके। उसने नीरू को देखा।

'बेटी', बुड्ढा बोला, 'सुना, कल अपने कुनबे के साथ जुम्मन आएगा।'

निरू ने भरे घड़े को रख दिया, 'कौन कहता था, अब्बा ?'

'ठीक तो क्या, फराकी कल कहता था कि दो-एक दिन में आने वाला है।'

'कितने लोग होंगे अब्बा ?'

'आदमी क्या पूछने हैं, बेटी ! यों लड़का उसके एक ही है, रज्जब। साथ में तीन-चार पट्ठे और होंगे। यही छह-सात भैंसे, बीसों मुर्गियां, कुत्ते, तीतर, नेवलों का पूरा कुनबा समझो।'

निरू की नसों में एक तेज़ लहर दौड़ गयी। रज्जब का बाप देवताचक के इलाके में पूरे सात साल के बाद आ रहा है। रज्जब को नीरू जानती थी, जब वह दस-ग्यारह वर्ष का था। औसत से अधिक गोरा होने के कारण नटों का काला समुदाय उसे कैरा कह कर चिढ़ाता, उसका बुड्ढा बाप जुम्मन उसे शाहजादा कहता और नीरू मोग़ल। उसकी लम्बी सुडौल गर्दन में काले कपड़े में बँधी तावीज झूलती, जिसे जुम्मन कहता कि गाज़ीपुर के शेख ने उसके जन्म के पहले दिया था।

सबेरे पौ फटने के पहले ठाकुर की छावनी के पास वाले बरगद के नीचे जुम्मन ने डेरा डाल दिया। नीरू ने आज नया गरारा पहना, नयी ओढ़नी ली। अभी कल ही मटरू बाजार गया था। पूरे एक महीने मर-मर कर रस्सियाँ बटी थी, जो कुल आठ-नौ रुपये में बिकी। छह तो गरारे और ओढ़नी में ही खप गये, तीन रुपये चावल, तम्बाकू और नमक में लग गये।

सुबह से ही नीरू बड़ी चंचल थी। थोड़ा दिन चढ़े जुम्मन मटरू से मिलने आया। सात फीट का लम्बा शरीर बुढ़ापे से झूल गया है, पर

अब भी उस की देह जैसे वैसी ही गठीली है। लगता है, अभी लंगोट बाँध कर जहाँ ताल ठोंकी, मछलियाँ तैर जाएँगी। गोल-चौड़ी ठुड्डी को समेट कर उसकी दाढ़ी झूलती है मधुमक्खी के छत्ते की तरह, जो उमर के भार से सफेद हो चली है। मटरू ने मूँज की माची ला पटकी। जुम्मन बैठ गया। बग़ल में पयाल का मोढ़ा था, उस पर रज्जब बैठ गया। मटरू ने बातें शुरू कीं। देस-दुनिया, सौदा-पाटी, जात-बिरादरी की पूरी कहानी चलती रही। तभी मटरू ने लड़की से चिलम माँगी। जुम्मन ने आँखें खोल कर देखा, उसे जैसे माँगी मुराद मिल गयी। मुद्दत से जुम्मन परेशान था। उसने अपने शाहज़ादे की शादी के लिए चप्पे-चप्पे की खाक छानी, पर सब बेकार। लड़कियाँ उसने बहुत देखीं। गोरी चिट्टी तो बहुत मिलीं, पर ठिगनी लड़की से शादी करके वह अपना खानदान नहीं बिगाड़ना चाहता था, से उसने पहली बात में सभी शादियाँ नामंजूर कीं।

अगले दिन का सूरज बड़ा सुनहला-सुनहला लगा। सुनहली किरणों के नीचे सोयी गंगा की रुपहली धारा में नीरू ने गागर डुबायी। ऊपर से बगलों की लम्बी पाँत कोण बनाते निकल गयी लहरों ने सुर दिया, चूड़ियाँ खनकीं और उसके होंठ काँप कर रह गये। भरी गागर को बार-बार डुबाती रही गंगा का ठंडा पानी जैसे बड़ा चिकना हो गया है, कुन-कुना। रास्ते से उसकी मुर्गी निकली। उसने गागर से पानी निकाल कर छिड़का। वह कुड़बुड़ायी, भागी और यह हँस पड़ी।

'बेटी!' नीरू को खड़ी देख कर मटरू बोला, आज घास के लिए दूर न जाना, पास वाले खेत से मटर के फुटके उखाड़ ला!' झोपड़ी से लगा एक बीघा खेत था, ठाकुर की मिहरवानी थी। मटरू ने उसमें जौ बोये थे। कहीं-कहीं मटर भी उग आयी थी। नीरू खेत में घुसी। मटर के लाल सफेद फूल, जो ताश की चीड़ी के आकार के जैसे बाजे हों, हर फूल उसके कान में कुछ कहने के लिए मचल रहा हो और सचमुच उसकी देह में एक सुरसुरी दौड़ गयी।

उसने अभी दो-तीन मुट्ठी पौधे उखाड़े कि देखा सामने रज्जब खड़ा है। वही गोरा-चिट्टा शरीर, वही कसी देह। अब वहाँ बचपन की मुलायमियत न थी, लोआ-पोआ शरीर न था, एक दूसरा ही रंग था। कसावट थी, चलवे मछली की पीठ की तरह चिकनापन था, शोख़ी थी। गाढ़े का लम्बा झूलता हुआ कुर्ता और मऊ की चारखाने की तहमत। ऊपरी गर्दन पर गंगा के कछार की मिट्टी थी, जिसमें बालू के कण अबरख की तरह चमक रहे थे।

'इतनी मटर एक साथ भैंस खाएगी, तो मोटी हो जाएगी नीरू, चला भी न जाएगा।' नीरू मुसकरायी, 'हर्ज़ क्या है, मोग़ल। पूरा खेमा तुम पर लाद दिया जाएगा।' रज्जब हँसा और मेंड़ पर बैठ गया।

'क्यों नीरू, यहाँ अकेले तुम्हें बुरा नहीं लगता।'

'बुरा क्यों लगे, हम कोई बेघर-बार के थोड़े हैं!'

रज्जब चुप रहा। फिर बोला, 'पर जानती हो, अब्बा कहते हैं, घर बनाना कंजड़ के लिए मौत से भी बुरा है।'

'होगा, पर मैं तो जंगल-जंगल घूमने से रही।'

'अच्छा, यह तो कहो, कब तक चलने का इरादा है?'

'मैं बोलूँ', नीरू मुसकरायी, 'बाबा से पूछो!'

नीरू चुप हो गयी। रज्जब न जाने क्या-क्या कहता रहा।

'अच्छा भई घर हो जाएगा।' रज्जब मुसकराया और नीरू के पास जा कर बोला, 'नीरू!'

'रे ऽ ए ऽ ए ऽ ओ ऽ रज्जब, रज्जब के बच्चे!'

जुम्मन चिल्लाता हुआ चला आ रहा था। नीरू रज्जब से दूर हट कर पौधे उखाड़ने लगी।

'अबे रज्जब, सुनता भी है!'

सामने नीरू और रज्जब को एक साथ देख कर बुड्ढा ठिठका।

'हूँ, अबे यह लालों का घर नहीं है। अभी से लौंडिया के पीछे पागल

है ! जा-जा, बरगद के नीचे गाड़े में दूध रखा है, पी ले ! सिकहरे पर रोटियाँ भी हैं। केवल धूल मलने से पुट्ठे नहीं चढ़ते।'

रज्जब चला तो नीरू की ओर देख कर जुम्मन बोला, 'क्यों री, मटरू घास नहीं गढ़ता। कह दे उस से कुछ कसरत करे, नहीं तो लाठी टेकेगा !'

नीरू आँख गड़ाए पौधे उखाड़ती रही। जुम्मन बोला, 'क्यों री, मटरू घर पे है ?'

'हाँ दादा !' नीरू ने धीरे से कहा और मटर उखाड़ने का नाटच करती रही।

जुम्मन चल पड़ा। उसके दोनों हाथ उसकी पीठ के नीचे बँधे थे। छाती आगे निकली थी। वह बुदबुदाता चला जा रहा था, 'लड़के हैं, लड़के, ठीक हो जाएगा, सब ठीक हो जाएगा !'

दोपहर को नीरू घर लौटी। भैंस के आगे मटर फेंक कर उसे सहलाती रही। उसकी गर्दन में हाथ डाल कर झूल गयी।

'क्यों, मेरी सगाई हो गयी, सूना तूने।' वह उसके सामने आँखें नचा कर बोली, 'क्यों खुश हो न !' भैंस की काँटेदार बालों वाली पीठ कन-मनायी। रोएँ सुई की तरह खड़े हो गये। भैंस उसके हाथ को चाटने लगी। खुरदरी जीभ जैसे उसके हाथों में स्नेह से सट गयी। वह बड़ी देर तक बैठी रही। सहसा अपने मुर्गे को आते देख उठी, उसके पीछे पकड़ने को दौड़ी। क् क् क् क् की आवाज़ से झोपड़ी गूंजी और गूंजती रही बड़ी देर तक, सुख से, उल्लास से।

नीरू और रज्जब की सगाई हो गयी। जुम्मन ने दो सौ रुपये, नयी ओढ़नी और लाल गरारा दिया। आज उसे आए पन्द्रहवाँ दिन बीत गया फागुन के पहले पखवारे में फसल कटने लगती है, सो उसने गाँवों में कुश्ती दिखाने के लिए चल देने का विचार किया। जाने की तैयारी हो गयी। चारों भैंसों पर पूरा घर लद गया। पुआल-भरे बोरे के गद्दे, मुर्गियों के

खोंचे, तीतरों के पिंजड़े, नेवलों के बक्से; कुत्ते तैयार, बकरियाँ चलने को उतावली। मटरू के बार-बार कहने पर ही जुम्मन ने नीरू को एक साल और बाप के घर रहने को कहा। नीरू झोंपड़ी के बाहर खड़ी उस विदाई की तैयारी में थी। तभी एक आदमी ने आ कर खबर दी कि जुम्मन और उसके लड़के को थानेदार ने ठाकुर की छावनी पर तलब किया है। नीरू ने यह भी सुना कि ठाकुर की छावनी से रुपये, बर्तन, और भी कई सामान चोरी चले गये। चोरी के जुर्म में जुम्मन और रज्जब को थानेदार ले गये थाने। भैंसें मवेशीखाने गयीं, मुर्गियाँ थानेदार के खानसामे के पास, बकरियाँ लापता हो गयीं, कुत्ते मारे-मारे फिरे, पूरा कुनबा उजड़ गया।

उस साल बारिश नहीं हुई। धान की खड़ी फसल सूख गयी। चैती की भी कोई उम्मीद न थी। उत्तप्त हवा धू धू करके दौड़ती। सूखे खेत गर्द से भर जाते। मटरू के परिवार के फाके का पाचवाँ दिन था। वह दिन भर बैठ कर रस्सियां बटता। पर कोई खरीदने को तैयार नहीं। झोपड़ी का एक-एक कोना रस्सियों से भर गया; पर चूल्हे में, आग जलने की नौबत न आयी।

सूखा फागुन था। पलाश फूले थे, पर शोभाहीन। पानी के अभाव में महुए में फूल ही नहीं आये। बड़ा उदास-सा सुनसान छा रहा था। मटरू अपनी झोपड़ी में आ कर बैठा। वह हाँप रहा था। उसकी आंखों के सामने एक घना अँधेरा था। वह बुड्ढा था, शरीर में न फुर्ती है न चलने की शक्ति। गाँव-गाँव घूम कर भीख माँगने की भी ताक़त नहीं। लड़की जवान है, उसे भीख के लिए भेजना मुश्किल था। वह अभी ज़मींदार की छावनी से लौटा है खाली हाथ।

'कहाँ गये थे अब्बा ?' नीरू ने पूछा

'कहीं नहीं बेटी, गंगा की ओर जाने का इरादा था, जा न सका। कमर में बड़ा दर्द है।' उसने कहा, पर लगा जैसे कुछ ऐसे विचार उसके

दिमाग में तूफान उठा रहे हैं कि उसका पूरा शरीर काबू में नहीं है। आँखें रोशनी-हीन बुझी लौ-सी जल रही हैं। पूरा शरीर काँप रहा है।

शाम हो रही है। दो-एक घंटे दिन शेष है। नीरू एक चारपाई पर लेटी आसमान की ओर देख रही थी। दोपहर का दरवाज़े पर बैठा मटरू वैसे ही पड़ा था।

'बेटी।' उसने पुकारा।

'क्या है अब्बा, कुछ कहा?' झटके से उठ कर नीरू उसके पास बैठ गयी।

हकलाते हुए मटरू बोला, 'ज़रा छावनी में चली जा, ठाकुर से दो रुपये माँग ला! कहना मेरी कमर में दर्द है।'

लड़की ने बाप की आँखों की ओर देखा, जो शरम के मारे धरती में गड़ी हुई थीं। उसने कुछ कहा नहीं। चुपचाप छावनी की ओर चली गयी। बड़ी देर के बाद नीरू लौटी, बुड्ढे के सामने पाँच का नोट फेंक कर बोली, 'ठाकुर के पास फुटकल न थे।' और बिना उसकी ओर देखे झोपड़ी में चली गयी।

मटरू ने रुपये उठाये। लाठी टेकता बाज़ार की ओर चला। नीरू झोपड़ी में पड़ी-पड़ी देर तक रोती रही। याद आया तो उसने घड़ा उठाया और नदी की ओर चली। आगे वही भैंस बंधी थी, उसने देखा नहीं। मुर्गी चली जा रही थी, उसके पीछे आठ-दस चूजे, मटमैले, घिनौने। नीरू आगे बढ़ गयी। सूखे और जाड़े की मार से सिकुड़ी नदी चली जा रही थी, बड़ी ही सर्द। नीरू किनारे पर बैठ गयी। पछुवा का सन्नाटा तीर-सा लगता। पीपल के पत्ते खड़खड़ा उठते, जैसे सन्नाटा कान झाड़ रहा हो।

साल भर बीत गया। जुम्मन का खेमा एक बार फिर छावनी वाले बरगद के नीचे पड़ा। अँधेरा होते-होते रज्जब नीरू के पास पहुंचा। वह उसे देख कर रोने लगी। बहुत समझाने पर चुप हुई।

'मटरू दादा कहाँ हैं ?' रज्जब ने पूछा।

'ठाकुर के यहाँ।'

'ठाकुर के यहाँ ?' रज्जब की आँखें जैसे जल उठीं, 'वहाँ उनका क्या काम ?'

'उनको गाँजे से मतलब है, दिन भर चिलम भरते हैं, पीते हैं, पिलाते हैं। शाम को बुत की तरह लेट कर खुदा की याद करते हैं।'

'तुम यहाँ अकेली रहती हो ?'

'नहीं, मैं भी वहीं रहती हूं : झोपड़ी में तो कभी-कभी आती हूँ। जानते हो ठाकुर की दो औरतें हैं। मगर उनसे मन नहीं भरता। बाप नौकर है तो बेटी नौकरानी !' और वह सुबुक-सुबुक कर रोने लगी।

फिर सहसा थूक कर बोली, 'उबकाई आती है।'

'हुं !' रज्जब ने कहा। और चुपचाप झोपड़ी से बाहर हो गया।

नीरू ने पुकारा, 'मोग़ल !' पर जैसे उसने सुना ही नहीं। रात के सन्नाटे में खड़ी वह अँधेरे में ताकती रही और उसकी कातर पुकार पेड़ों से प्रतिध्वनित होकर वापस लौट आई।

सबेरे जुम्मन ठाकुर की छावनी पर पहुँचा। मटरू वहीं बैठा, था। उसे देखते ही जुम्मन बोला, 'सलाम मटरू भैया, ज़रा जल्दी है अपनी झोपड़ी को चलो !'

'झोपड़ी में क्या रखा है ?' मटरू बोला, 'कहते क्यों नहीं, यहाँ क्या कोई पराया है ?'

'यहाँ ?'

'हाँ-हाँ, यहाँ ! यहाँ क्या किसी से पर्दा है ? ठाकुर साहब क्या दुश्मन हैं ?'

जुम्मन की आँखें चढ़ गयीं, 'होंगे भई दोस्त। हमें इससे क्या ! लड़की बिदा करो ! चलें अपनी राह।'

'लड़की !' मटरू हँसा, 'लड़की चोरों के साथ न जाएगी।'

'खबरदार मटरू ! जुबान खींच लेंगे।' जुम्मन उखड़ा, 'चोर कहने वाले। यहाँ तो अपनी आबरू पर मरते हैं। रहते हैं इज्जत के साथ बरगद के नीचे या जेल के पीछे।'

'शोर मत करो !' मटरू बोला, 'हमें सुनने का वक्त नहीं है। नीरू बगल की दीवार के पीछे खड़ी थी। वह बार-बार रज्जब को देखना चाहती। वह चुपचाप खड़ा था। नीरू सोचती, मटरू ठाकुर के हाथ बिका है, बिके। बुड्ढे झूठे झगड़ा करते हैं। वह लाख मना करने पर भी नहीं मानेगी। रज्जब का चेहरा बड़ा उदास था। नीरू देखती, एक सुनसान मुर्दे की दीवार-सा डरावना क्षितिज, सामने रज्जब। मृगमरीचिका की एक लहर, जिसमें अस्थिरता नहीं है, बहाव नहीं है। और न जाने किस शंका से उसका मन काँप उठता।

'मटरू !' जुम्मन एक बार फिर बोला, 'पछताओगे भाई, दूसरों के इशारे पर अपनी खानदानी अस्मत मत बेचो !'

'क्या टर्र-टर्र करते हो ?' मटरू बोला, 'कह दिया, वह चोरों के साथ न जाएगी।'

'न जायगी, रखो !' रज्जब क्रोध से कांप उठा, 'जाएगी, तो तुम्हें रोटी कहाँ से मिलेगी। बेशर्म, वैसी बेहया लड़की ले कर हम करेंगे क्या ! लाओ हमारे दो सौ रुपये !'

मटरू दौड़ा। उसके हाथ में मोटा डण्डा था।

'ऐसा न करो, अब्बा !' नीरू बग़ल से दौड़ कर उसके पैरों पर गिर पड़ी, 'इनका दो सौ रुपया लौटा दो !' वह चुपचाप धरती की ओर देख रही थी।

ठाकुर मुसकराये। मटरू ने उनकी ओर देखा। वे भीतर जा कर नोटों का एक बन्डल ले आये, जुम्मन की ओर फेंक कर बोले, 'ये हैं तेरे रुपये, गिन ले, और सुन, इसी दम इलाका छोड़ दे, वरना इस बार छूटना भी मुश्किल होगा।'

जुम्मन ने रुपये गिने और बोला 'अभी सरकार।'

कटे जौ की सफ़ेद बालों-सी भूरी खुत्थियाँ और उनके बीच असहाय विधवा-सी गंगा की धार।

ओऽएऽमल्लाह, आना भई ! कब तक तम्बाकू पीते रहोगे। हमें अपने पार तो पहुँचा दो।'

नीरू का ध्यान टूटा। उसने देखा आसमान में फफोलों की तरह तारे उठने लगे हैं। दूल्हा नाव पर बैठा। दुलहिन की ओर देख कर मुसकराया। आंखें बोलीं, 'हमने दो किनारों को बाँध दिया।' दुलहिन मुसकरायी, 'यह बन्धन दृढ़ हो।' नीरू मन में सोचती, आर-पार की माला। उसकी झोंपड़ी में मूँज की रस्सी है जिससे वह हज़ारों नदियों का पाट बांध सकती है। जंगल में पीले कनेर के फूल मुसकरा रहे हैं। उनकी भी क्या कमी...वह एक किनारे पर बैठी है। दूसरा किनारा चाहिए। पर लाख ढूंढने पर भी उसे कोई किनारा नहीं दिखाई पड़ता। केवल प्रवाह, जल, गहरा पानी। उसके मन में किसी की बग़ल में बैठ कर पार जाने की इक्छा है, पर कोई किनारा नहीं, केवल पार की माला ! आर-पार की माला !!